भारतीय साहित्य के निर्माता

स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती

विष्णु प्रभाकर
विष्णुदत्त राकेश

द्वितीय संस्करण : १९९४

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन, ३५ फीरोजशाह मार्ग,
नयी दिल्ली-११०००१

Swami Shraddhanand Saraswati : A monograph in Hindi by Vishnu Prabhakar and Vishnu Dutt Rakesh on the Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1994), Rs. 15.

© साहित्य अकादेमी

प्रथम् संस्करण : 1993
द्वितीय संस्करण : 1994

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304 & 305 अन्ना सालई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग,
दादर, बम्बई 400 014
ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे.सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

मूल्य : पन्द्रह रुपये
ISBN 81-7201-443-0

मुद्रक :

कम्प्यूडाटा सर्विसिज़, जंगपुरा, नई दिल्ली-110014

विषय-सूची

भूमिका	७
गर्त से शिखर की ओर	९
साहित्य साधना	४८
चयन	६६
स्वामी श्रद्धानन्द वाङ्मय : सम्पूर्ण सूची	१०१

pdf created by Rajesh Arya, Gujarat

भूमिका

भारतीय नवजागरण के पुरोधाओं में जिन व्यक्तियों का विशिष्ट योगदान रहा है उनमें गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के निर्भीक योद्धा स्वामी श्रद्धानन्द का नाम प्रथम श्रेणी में आता है। इनका महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि इन्होंने पतन की निचली गहराइयों से उठकर उत्थान की गगनचुम्बी ऊँचाइयों को छुआ। केवल एक ही क्षेत्र में नहीं बल्कि शिक्षा, साहित्य, पत्रकारिता, स्वाधीनता संग्राम और नानारूप समाज सुधार–जैसे सभी क्षेत्रों में अपनी अनवरत साधना और तप के बल पर चिरस्मरणीय योगदान दिया।

उनसे मतभेद रखते हुए भी उनके सभी समकालीन महापुरुषों ने उनकी शक्ति को पहचाना था और भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। वह जहाँ एक ओर हरिद्वार के पास गंगा के किनारे, हिंसक पशुओं से भरे घने जंगलों में अथक साधना के बल पर प्राचीन शिक्षा प्रणाली के अनुरूप गुरुकुल कांगड़ी जैसी महान् संस्था की स्थापना कर सके वहीं दूसरी ओर स्वाधीनता संग्राम में एक निर्भीक योद्धा की तरह गोरे सैनिकों की संगीनों के सामने छाती खोलकर भी खड़े हो सके।

शिक्षा के क्षेत्र में मातृभाषा को माध्यम बनाकर उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया था कि अंग्रेज़ी की जड़ें हमारे देश की भूमि में नहीं है। उन्होंने न केवल स्वयं 'कल्याण मार्ग का पथिक' जैसी बेबाक आत्मकथा लिखी, बल्कि गुरुकुल के स्नातकों को हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपूर्व योगदान देने के लिए प्रेरित भी किया। उनकी प्रेरणा पर, हिन्दी में विज्ञान जैसे दुरूह विषयों पर पुस्तकें लिखी गईं। इतिहास और जीवनी लेखन के क्षेत्र में भी अनेक उल्लेखनीय सफलताएँ गुरुकुल के स्नातकों ने प्राप्त कीं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी वह मील का पत्थर प्रमाणित हुए। सद्धर्म प्रचारक, विजय, अर्जुन, वीर अर्जुन, जनसत्ता–जैसे अनेक दैनिक और साप्ताहिक पत्र निकालकर हिन्दी भाषा और साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की और यह सब उन्होंने तब किया जब हम दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए थे और फ़ासिस्ट शक्तियाँ हमारी सभ्यता और संस्कृति को निगल जाने को आतुर थीं।

ऐसे व्यक्ति का जीवन चरित्र कितना लोमहर्षक और प्रेरणादायी हो सकता है, यह कल्पना की वस्तु नहीं है, बल्कि निखूट सत्य है। सत्य सदा कल्पना से अधिक रोमांचक होता है और इसका सबसे अच्छा उदाहरण अगर कोई है तो स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी है। उसका प्रमाण हैं वे उद्‌गार जो उनके बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी, सरोजिनी नायडू, पं. जवाहरलाल नेहरू, रेम्जे मैक्डानल्ड जैसे स्वनामधन्य व्यक्तियों ने प्रकट किये।

"श्रद्धानन्द जी की भारत को देन उनकी सत्य में अगाध श्रद्धा है। श्रद्धानन्द नाम ही उनकी उस भावना का परिचायक है। वह नित्यप्रति श्रद्धावान थे और उसी में आनन्द मनाते थे। उनके लिए सत्य और जीवन एक हो गये थे। सत्य ही जीवन था और जीवन ही सत्य।"

– रवीन्द्रनाथ ठाकुर

वह अपने विश्वास का पालन करते थे। भय के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया। उन से बढ़ कर मैंने बहादुर आदमी संसार में दूसरा नहीं देखा। मैं साक्षी हूँ कि देश के लिए अपना शरीर भेंट कर देने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। वह अनाथ बन्धु थे। अछूतों के लिए जितना उन्होंने किया, उससे अधिक हिन्दुस्तान में किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं किया।

– महात्मा गाँधी

मैं सदैव अनुभव करती रही हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्द भारत के वीर काल की एक दिव्य विभूति थे। अपने भव्य और उन्नत व्यक्तित्व के द्वारा वह साथियों में देवता की तरह विचरण करते थे।

– सरोजिनी नायडू

विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभकार्य के लिए शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिए मृत्यु तक की परवाह न करनेवाले गुणों का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार का निर्भीकतापूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति संन्यासी के वेश में भव्य मूर्ति, दीर्घ काया, शाहाना सूरत, अन्तर्भेदी दीप्त नयन, कभी-कभी दूसरों की कमज़ोरियों पर चेहरे पर उभर आनेवाली झुँझलाहट या गुस्से की छाया का गुज़रना, मैं उस जीवंत मूर्ति को कैसे भूल सकता हूँ। प्रायः यह तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ खड़ी होती है।

– पं. जवाहरलाल नेहरू

वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित मॉडल सामने रखना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर संकेत करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिए नमूना माँगेगा तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा दूँगा।

– रेम्जे मैक्डानल्ड

मन में प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे व्यक्ति का जीवन कैसे बीता होगा। उसी की झाँकी हम आगे के पृष्ठों में देने का प्रयत्न करेंगे।

अध्याय एक

गर्त से शिखर की ओर

खण्ड-एक

स्वामी श्रद्धानन्द का मूल नाम मुंशीराम था। वह एक नगर कोतवाल के बेटे थे। ऐश्वर्य और विलास के सभी साधन उन्हें सहज उपलब्ध थे और उन्होंने उनका पूरा फ़ायदा उठाया। करणीय और अकरणीय सभी कर्म किये। लेकिन कैसा भी पतित व्यक्ति हो उसके जीवन में ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो उसके अंतर में प्रश्नाकुलता पैदा करके उसे व्याकुल कर देती हैं। यहीं से शिखर का मार्ग आरम्भ होता है। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' में कुछ ऐसी मार्मिक घटनाओं का वर्णन किया है जिन्होंने उनके अन्तर में गहरी कुरेदना पैदा कर दी।

(१)

पौष १९३२ के अन्त में एक भ्रमण करने ऐसी ओर गया जहाँ से मेरा निवास स्थान समीप न था। दूर चले जाने से लौटना साढ़े सात बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनों के लिए चला। विश्वनाथ का मन्दिर एक ही गली में है जिसके दोनों ओर पुलिस का पहरा रहता था। मैं विश्वनाथ की ओर के फाटक पर पहुँचा तो पहरेवालों ने मुझे रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि रीवा की रानी दर्शन कर रही हैं, उनके चले जाने पर द्वार खुलेगा। मुझे कुछ खिसियाना-सा देख पुलिस मैन ने, जो मेरे पिता की अर्दली में रह चुका था, मोढ़ा बैठने को रख दिया। मैं एक पल के लिए बैठ तो गया किन्तु विचार कुछ उलट गये। इस रुकावट से मेरे दिल पर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती थी, घबड़ा उठा और मैं उलटा चल दिया। पहरे वाले ने बहुत पुकारा परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मैं कपड़े पहने ही बिस्तर पर लेट रहा हूँ। कह दिया कि भोजन नहीं करूँगा। नौकर मेरे आग्रह करने पर स्वयं खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्न पर प्रश्न उठते थे – क्या सचमुच यह जगत् स्वामी का दरबार है, जिससे एक रानी उसके भक्तों को रोक सकती है? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है या वे देवता कहला सकते हैं, जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो? परन्तु मूर्ति को देवता किसने बनाया? नित्य

मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तियाँ बनाते हैं. . . . कभी व्याकुल होकर दस मिनट टहलकर फिर बैठ जाता। फिर दूसरी प्रश्नावली की लहर पर लहर उठी–"जब सांसारिक व्यवहारों में पक्षपात है तो देवताओं के दरबार में उसका दखल क्यों न हो? क्या मनुष्यों ने भी पक्षपात देवताओं से ही सीखा? क्या मेरे स्वच्छन्द जीवन ने तो मुझे अविश्वासी नहीं बना दिया?

(२)

एक दिन सिकरौर छावनी की ओर घूमने जाते हुए एक रोमन कैथोलिक पादरी 'Roman Catholic Priest' मिल गए। बातचीत करते हुए उन्हें प्रोटेस्टेंट पादरी 'Protestant Missionary' ल्यूपोल्ट की अपेक्षा अधिक विनयशील, शांत और सहिष्णु पाया। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यदि खृष्टीयमत 'Christian Religion' का तत्व जानना हो तो कैथोलिक कलीसिया 'Catholic Church' के सिद्धांतों को समझना चाहिए। उनके चर्च में मेरा आना-जाना शुरू हुआ। उनकी धार्मिक संस्थाओं तथा प्रार्थना सभाओं का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। मेरे श्रद्धा सम्पन्न चित्र पर फादर लीफूं 'Father Lefoung' के आचार व्यवहार का भी असर हुआ। मैं यहाँ तक उन पर मोहित हुआ कि रोमन कैथोलिक विधि बप्तिस्मा 'Baptism' लेने को तैयार हो गया। मेरे एक ही मित्र को मेरे निश्चय का पता था परन्तु उन्होंने मुझे रोकने की कोशिश ही न की। फाल्गुन १९३० संवत् में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बप्तिस्मा लेने की तिथि नियत करने के लिए मैं एक शाम को फादर लीफूं की ओर गया। स्वाध्याय के कमरे में वह थे नहीं, मैंने अन्दर के कमरे का पर्दा उठाया पादरी साहब तो वहाँ थे नहीं, परन्तु एक दूसरे पादरी और एक ब्रह्मचर्य वस्त्रधारिणी 'Nun' को ऐसी घृणित दशा में पाया कि मैं उलटे पाँव लौट गया और फिर उधर जाने का नाम न लिया।

(३)

बरेली आने पर शिव देवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम हुआ कि दिन का भोजन तो मेरे पीछे करती ही, परन्तु रात को जब कभी मुझे देर हो जाती और पिताजी भोजन कर चुकते तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मँगा लेती और जब मैं लौटता उसी समय अँगीठी पर गर्म करके मुझे भोजन कराती, पीछे स्वयं खाती। एक रात, मैं रात के आठ बजे मकान पर लौट रहा था। गाड़ी दर्जी चौक के दरवाजे पर छोड़ी। दरवाजे पर ही बरेली के बुजुर्ग रईस मुंशी जीवन सहाय का मकान था। उनके बड़े पुत्र मुंशी त्रिवेनी सहाय ने मुझे रोक लिया। गजाक सामने रखी और जाम भर कर दिया। मैंने इंकार किया। बोले–'तुम्हारे लिये ही तो दो-आतशा खिंचवायी है। यह जौहर है। त्रिवेनी सहाय जी के छोटे सब मेरे मित्र थे, उनको मैं बड़े भाई के तुल्य

समझता था। न दो-आतशा का मतलब समझा न जौहर का, एक गिलास पी गया। फिर गप्पबाजी शुरू हो गई और उनके मना करते-करते मैं चार गिलास चढ़ा गया। असल में वह बड़ी नशीली शराब थी। उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा करायें। उस समय तक न तो मैं कभी वेश्या के मकान पर गया था और न कभी किसी वेश्या को अपने यहाँ बुला कर बातचीत की थी, केवल महफिलों में नाच देखकर चला आता था। शराब ने इतना ज़ोर किया कि पाँव ज़मीन पर नहीं पड़ता था। एक खूंड मेरे हाथ में था। एक वेश्या के घर में जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को देखकर सब सलाम करके खड़ी हो गयीं। घर की बड़ी नाईका को हुक्म हुआ कि मुजरा सजाया जाए। उसकी नौची के पास को रुपए देने वाला बैठा था। उसके आने में देर हुई। न जाने मेरे मुँह से क्या निकला। सारा घर काँपने लगा। नौची घबराई हुई दौड़ी आयी और सलाम किया तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा। उसने क्षमा माँगने के लिए हाथ बढ़ाया और मैं नापाक नापाक कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियों ने बतलाया। नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिये पर जा गिरा और बूट आगे कर दिये जो नौकर ने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढ़े पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। इस पर पहुँचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बन्द कर लिए और बरामदे के पास पहुँचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय एक नाजुक छोटी उंगलियों वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने उलटी खुल के की। अब शिवदेवी के हाथ में मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुँह पोंछ ऊपर का अँगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे-बैठे ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गई। वहाँ पलँग पर लेटा कर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठ कर माथा और सिर दबाने लगी। मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम से भरा मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृशक्ति की छत्रछाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ। पथरायी हुई आँखें बन्द हो गयीं और मैं गहरी नींद सो गया। रात को शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली। वह चौदह-पन्द्रह बरस की बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी माँगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गर्म दूध अँगीठी पर से उतार और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुँह को लगा दिया। दूध पीने पर होश आया। उस समय अंग्रेज़ी उपन्यास (नावल) मगज में से निकल गए और गुसाई जी के खींचे दृश्य सामने आ खड़े हुए। मैंने उठकर और पास बैठाकर कहा, "देवी ! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।" उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी। शिवदेवी ने कहा — "आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती। अब भोजन करने में क्या रुचि है?" उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो

सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियाँ सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की परन्तु वहाँ उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था–"आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुना कर मुझ पर पाप क्यों चढ़ाते हो? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूँ।" उस रात बिना भोजन किए दोनों सो गए और दूसरे दिन से मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि अंधकार ही प्रकाश को ङँगुली पकड़ कर लाता है।

खण्ड–दो

मुंशी राम का जन्म फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी संवत् १९१३ वि. तदनुसार २२ फरवरी, १८५६ ई. के दिन पंजाब प्रान्त के जालंधर जिले के तलवन नाम के कस्वे में हुआ था। उनका जन्म का नाम बृहस्पति था परन्तु परिवार में वह मुंशीराम के नाम से ही जाने गए। बालक मुंशीराम के कालांतर के जीवन को देखते हुए क्या ऐसा नहीं लगता कि बृहस्पति नाम उनके लिए कितना सार्थक प्रमाणित हुआ। इसीलिए कहते हैं कि संयोग कभी व्यर्थ नहीं होते। उनके तीन भाई और दो बहनें और थीं। वह अपने पिता श्री नानकचन्द की अंतिम संतान थे इसलिए विशेष रूप से लाडले भी थे। अपने परिवार का वर्णन करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, 'मेरे दादा लाला गुलाबराय भी हरिभक्ति में रत रहते थे। नित्य प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान करते और सुखमणि तथा भगवद्गीता का पाठ करते। फिर कबीर तथा अन्य भक्तों के शब्द गाते रहते। कपूरथला में वह रानी हीरादेवी के मुख्तारकार थे और जव महाराज नौनिहाल सिंह के गद्दी-नशीन होने पर रानी साहिबा अपने दोनों पुत्रों (सरदार विक्रमसिंह और कुंवर सुचेत सिंह) सहित जालंधर में आ बसीं तो मेरे दादा भी उन्हीं के साथ चले आये और महाराजा नौनिहाल सिंह के लिए प्रलोभनों की परवाह न् की। गुलाबराय जी बड़े स्पष्ट वक्ता थे। जिस समय वह ४ बजे स्नानादि से निवृत्त होकर पाठ प्रारम्भ करते और पंचम स्वर में भजन गाते तो सरदार विक्रम सिंह की नींद खुल जाती। तंग आकर उन्होंने एक दिन कहा–"लालाजी क्या आप परमेश्वर का नाम मन में नहीं ले सकते?" उत्तर मिला–"मेरे मन में तो हर दम परमात्मा बसते हैं परन्तु जो मूढ़ भजन की अमृतबेला में वेहोश सोए रहते हैं उन्हें सचेत करने के लिए उच्च स्वर से भजन बोलता हूँ।" नानकचन्द ऐसे ही निर्भीक, स्पष्टवक्ता, हरिभक्त और विचारक पिता के पुत्र थे।

इनका प्रारंभिक जीवन बहुत कष्टों में बीता। अंग्रेज़ों से भी वह नहीं डरते थे। तहसीलदार से झगड़ा करने पर उन पर मुकदमा भी चलाया गया लेकिन उनके विरुद्ध एक भी गवाह नहीं मिला। इसलिए वह छोड़ दिए गए परन्तु इससे उनके स्वाभिमान

को ठेस लगी। उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और कुछ दिनों बाद लाहौर में जाकर चौकीदारों के बक्शी बन गए।

यह वह युग था जब सारे देश में अन्दर ही अन्दर कम्पनी बहादुर के अन्याय के विरुद्ध असंतोष पनप रहा था। और अंत में यही असंतोष १८५७ के भारतीय स्वाधीनता संग्राम के रूप में फूट पड़ा। उस समय नानकचन्द जी ने और उनके भाईयों ने, सबने अंग्रेजों की मदद की। और सबने तो पुलिस की नौकरी स्वीकार कर ली, लेकिन कम्पनी बहादुर ने उनसे कहा कि वह चाहें तो पुलिस इंस्पेक्टर का पद स्वीकार करें चाहे १२०० बीघे भूमि इनाम के रूप में ले लें।

नानकचन्द जी ने पुलिस इंस्पेक्टर का पद स्वीकार कर लिया। जमीन की पेशकश ठुकरा दी।

इस पृष्ठभूमि में बालक मुंशीराम का जीवन आरम्भ हुआ। उस समय उनकी आयु केवल तीन वर्ष की ही थी और सब सुविधाएं तथा परिवार का लाड प्राप्त होने के कारण बालक मुंशीराम का जीवन एक और ही दिशा में जा रहा था। तब उनमें इतनी समझ भी नहीं थी कि देश की तत्कालीन स्थिति को समझ पाते।

इसीलिए वह जैसे-जैसे बड़ा हो रहा था वैसे-वैसे ऐश्वर्य-विलास में डूबता जा रहा था। उन्होंने अपने घर में भोग-विलास का समुद्र उमड़ते हुए देखा था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने अपने शराबी मामा के सम्बन्ध में एक घटना का जिक्र किया है, सायंकाल का समय था। मेरे छोटे मामू होली का मेला देख शहर से लौटे आ रहे थे। घोड़ी अठखेलियां करती चली आ रही थी। मेरी दृष्टि उन पर पड़ी तो विचित्र दशा देखी। पगड़ी गले में लटक रही थी, शरीर एक ओर झुक रहा था। गिरने को ही थे कि एक भृत्य ने उन्हें उतार लिया, दो आदमी आश्रय देते हुए पिताजी की कोठी के आंगन में ले आये और चारपाई पर लेटा दिया। अन्य पुरुषों के बाहर जाते ही माताजी कमरे से निकलीं। भाई को विचित्र दशा में बेहोश देखा। चिकन जाली की कुड़ती और तनजेब का कुड़ता पारा-पारा है। पगड़ी धूल में लिपटी हुई है। मट्टी और होली के लाल रंग के मेल ने विचित्र दशा बना रखी है। प्रात: जो मुख कमल की तरह खिला हुआ था, वह अब कुंभला ही न गया डरावना भी प्रतीत होता है। हाथ-पैर चारपाई पर पटके जा रहे हैं। पान की राल मुँह से निकल कर दाढ़ी पर बह रही है। माताजी ने बाहर आते ही शराबी के सिर पर पानी डलवाना आरंभ किया। मैं भी चारपाई के पास खड़ा था। मुझ पर दृष्टि पड़ते ही माताजी के मन का भाव बदल गया। मुझे झट गोद में उठा लिया और घबरा कर नौकर से कहा–इसे क्यों यहाँ आने दिया? भृत्य अभी उत्तर देने को ही था कि मुझे बंगले के कमरे में ले गई और प्रयत्न करती रही कि मैं उस दृश्य को भूल जाऊं। मैंने कुछ प्रश्न भी किया था जो स्मरण

नहीं आ रहा परन्तु माता जी ने मेरा ध्यान दूसरी ओर खींच कर खेल में लगा दिया।

माता जी सर्वथा अनपढ़ थीं। शिशुपालन तथा आचार शास्त्र की शिक्षा उन्हें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु मातृशक्ति के अन्दर जो स्वाभाविक अगाध प्रेम परमात्मा ने उत्पन्न किया है उसने अपनी संतान की रक्षा का ज्ञान दे रखा था। आज उस समय का स्मरण करके मन ही मन में पश्चाताप करता हूँ कि माता की विद्युत रूपी स्वाभाविक शिक्षा के दो अक्षर पढ़ लेने के अभिमान में फंस कर मैंने अपने आगे के जीवन में क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखा।

इस तरह की कुरेदना उनके मन में बार-बार मचती थी। लेकिन यही व्यक्ति अपने प्रारंभिक जीवन में वही कुछ करता था जो छोटे-मोटे विलासी जमींदार और रईस करते रहे हैं। मांस, मदिरा, नारी कुछ भी नहीं छूटा था उससे। लेकिन पतन के उस मोहक मार्ग पर आगे बढ़ते हुए ऐसे दृश्य भी वह बार-बार देखते थे जो उनके अंतर में कहीं छिपी हुई प्रश्नाकुलता को उजागर कर देते थे। इसीलिए पतन के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए कहीं कुछ ऐसा घट जाता है जो आवारा को मसीहा बना देता है। कथा शिल्पी शरच्चन्द्र ने अपने जीवन का वर्णन करते हुए लिखा है–"मेरा जीवन अंततः मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब कुछ किया पर छोटा काम कभी नहीं किया।"

यह छोटा काम क्या है? इसकी व्याख्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी महत्त्वपूर्ण यह बात है कि इस प्रकार का दावा करने वालों में वह कौन-सी विशेषता होती है जो उन्हें 'कल्याण मार्ग का पथिक' बना देती है। ऐसे मनुष्यों के अन्दर जैसा हमने कहा एक कुरेदना होती है। यही कुरेदना जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता को जन्म देती है कि जो है उसके आगे भी कुछ और है। जो हम जानते हैं वह बहुत थोड़ा है जो नहीं जानते वह बहुत ज्यादा है। चिन्तन की यह प्रक्रिया, यह तलाश निरंतर प्रवाहमान होती रहती है। क्योंकि वैज्ञानिक युग में सत्य से बढ़ कर सत्य की तलाश का महत्त्व होता है। जो महाप्राण है वे अंधी गलियों में विचरण करते हुए भी तलाश का दिया जलाए रहते हैं। यह दिया ही उन्हें अपने सही मार्ग को खोज लेने में मदद करता है।

मुंशीराम का जीवन इसी सत्य का प्रतीक है। उनके पिता का निरंतर तबादला होता रहता था। और वह जहाँ भी पहुँचते उन्हें निरंकुश जीवन बिताने का पूरा अवसर मिल जाता। वह इतने निरंकुश थे कि एक बार जब उनके पिताजी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे तो वहाँ पहुँच कर शोर मचाने लगे। पिताजी ने धमकाया तो उन्हें इतना गुस्सा आया कि एक रस्सी ले आए और गले में डालकर बोले कि मैं फाँसी लगा लूँगा। पिताजी ने जोर का एक थप्पड़ गाल पर मारा। स्वामी जी ने लिखा है, "यह पहला अवसर था कि मुझ लाडले को किसी ने मारा। रोते-रोते मेरी घिग्गी बंध

गई। माताजी ने बाहर से आकर गोद में ले लिया। जो सुख उस समय मिला उसका वर्णन कोई कवि ही कर सकता है।"

इन घटनाओं का कोई अंत नहीं है। कुछ घटनाएं तो इतनी मार्मिक थीं कि उनके आकण्ठ विलासिता में डूबे रहने पर भी उन्होंने युवा मुंशीराम के अन्तर को झंझोड़ दिया। और वह ईश्वर के अस्तित्व के प्रति शंकाकुल हो उठे। जैसे इस घटना में, जो उन्होंने मथुरा में देखी थी, उनको ईश्वर के भक्तों के प्रति घृणा से भर दिया। उनके पिताजी ने चार चौबों को भोजन पर निमंत्रित किया और निमंत्रण के साथ ही छंटाक छंटाक भर भंग भेज दी थी। आठ बजे चारों चौबे भंग पीकर कृष्णगोपी लीला गाते और नाचते-कूदते हुए हमारे डेरे पर पहुँचे। "उनके चरण पखार कर आसन दिये गए। आज्ञा हुई – "लाओ यजमान भोग बिलासी।" डेढ़ पाव भंग भिगो रखी थी। चौबे जी ने घोई। फिर उसमें बादाम और इलाइची मिलाकर पीस डाला। दूध छोड़ दो लोटे पानी में गड्ड-मड्ड करके पहले द्वारिकाधीश को भोग लगा। एक छोटी कटोरी भर वहाँ निकाल कर बांटी गयी। एक कटोरी भर हमें मिली जो पिताजी, मैं, पाचक, कहार और अर्दली बांट कर पी गए। शेष चारों चौबों ने चढ़ा ली। ग्यारह बजे भोजन तैयार हुआ–"चलो चौबे जी। बाल भोग तैयार है–" चौबे जी की आँखे बंद हैं, बोले–"यजमान ! आसन पर ले चल" हाथ पकड़ उठाया, चरण धोए और आसन पर बैठा लिया। पहले डेढ़-डेढ़ सेर लच्छेदार मलाई अन्दर गई, आँखे खुली और मांग शुरू हुई। दो दो सेर पेड़े, उन पर भाजी पकौड़ी आदि के साथ तीस-तीस पूरियों की तह, फिर हवा और अन्त मलाई की पूर्णाहुति। हाथ धुलाकर हथेलियों पर एक रुपया दक्षिणा रखी गई और चौबे जी को प्रणाम किया परन्तु चौबे अभी खड़े हैं–"यजमान ! अब सत्यानासी भी मिल जाए।" छटांक-छटांक भर भंग और दी गई। तब चौबे जी हिले, पिताजी को भ्रम था कि कही इन चोबों के पेट न फट जाएं और ब्रह्म हत्या का पाप उन्हें लगे, परन्तु जब शाम को मैं विश्रांत घाट पहुँचा तो सत्यानासी के रगड़े सब कुछ भस्म करके चारों चौबे कुश्ती लड़ रहे थे और इस प्रतीक्षा में थे कि कोई "लड्डुआ खिलाने वाला यजमान मिल जाए।"

इसी तरह से उन्होंने मन्दिरों और मठों में नारियों पर होते अत्याचारों को देखा, उनकी रक्षा भी की। लेकिन ऐसे भी अवसर आये जब वह स्वयं प्रलोभन में फंस गए। उन्होंने बड़ी बेबाकी से इन घटनाओं का विस्तृत विवरण दिया है लेकिन साथ ही साथ उनके मन में अपने कृत्य के प्रति प्रायश्चित की भावना जन्म ले रही थी। प्राय: प्रत्येक घटना के बाद उनके मन में प्रश्न उभरता था कि जो कुछ मैंने किया वह ठीक है या गलत। जब मैं पंडे और पुजारियों से नारी की रक्षा के लिए पागल हो उठता हूँ तो फिर मैं स्वयं क्यों प्रलोभनों में फंस जाता हूँ। इस द्वन्द्व ने ही उनके अंतर

में निरन्तर प्रश्नाकुलता की अग्नि जलाए रखी।

उनके मित्र की पत्नी ने कैसे उन्हें धर्म भाई बनाया और कैसे इस घटना ने नारी के प्रति उनके मन में जो अतिरिक्त आसक्ति थी, उसको समाप्त करने में सहायता दी। वह घटना काशी की है। "दिवाली के पीछे भाई दूज आई। मेरी यज्ञोपवीत के समय की धर्म बहिन उस समय काशी में न थी। वह प्रत्येक भाईदूज पर मेरे माथे पर टीका लगा, हाथ में मौली बाँध, पल्ले में मिठाई डाला करती थी। मुझे धर्म बहिन का कुछ ख्याल आया और काम में लग गया कि इतने में अपनी सास सहित राजरानी पहुँच गई "भैया! भाईदूज पर टीका करने आई हूँ।" यह शब्द सुनते ही मैंने सिर पर टोपी रख गले में दुपट्टा ले लिया। नई धर्म बहिन ने टीका लगाया, रक्षा का व्रत दिया और मिठाई आगे की जो मैंने श्रद्धा से ग्रहण की। फिर दो रुपये भेंट देकर भगिनी को विदा किया। मानसिक प्रायश्चित अभी से शुरू हो गया। इसके पश्चात मैंने स्त्रियों को मिलने से बचना आरम्भ कर दिया और माता जी के परिचित परिवारों में जाना भी त्याग दिया।

इसके बाद मथुरा में दक्षिण के एक डिप्टी कलक्टर की बेटी के साथ गुसाई जी ने जो व्यवहार किया, उस घटना ने तो उन्हें हिला ही दिया। मेरे साथ एक सफ़दपोश पुलिस का हैडकान्स्टेबल था। मुझ से उसने कहा-"चलो बाबू! गुसाई के अन्दर के महल की सैर करा लाऊ"। दर्वान ने यह कह कर रोका कि विशेष चेले दर्शन कर रहे हैं, जाने की आज्ञा नहीं। परन्तु सन्यासी जी, गुरू, चपरासी को कौन रोकने वाला था। अभी पाँच मिनट ही घूमे थे कि चीख की आवाज सुनाई दी। पास वाले कमरे का दरवाजा झटके से खोल कर अन्दर गए। एक अबला कुमारी को गुंसाई जी अपनी ओर खींच रहे थे और वह छुड़ाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी। गुंसाई ने कुमारी को छोड़ खड़ी कृष्णमूर्ति की ओर इशारा करके कहा- भगवान के दर्शन से यह घबरा गई थी, मैं चुप कराता था। कुमारी बोली-इसका विश्वास न कीजिए। मैं इसके चरण स्पर्श कर रही थी तब इसने मुझे पकड़ लिया तब मैं चिल्लाई। आह! मुझे पिता के पास ले चलो। मैं उस कुमारी को सीधा उसके पिता के पास ले गया जो उसे नीचे न पाकर ऊपर तलाश कर रहे थे। यह वही दक्षिणी डिप्टी कलक्टर थे जो मेरे पास आये थे। उनको बड़ा दुख और क्रोध हुआ। मुझसे उन्होंने कहा-इस मूर्ति पूजा से ही उनका विश्वास उठ गया है। उन डिप्टी कलेक्टर का ही नहीं स्वयं मुंशीराम का भी मूर्ति पूजा से विश्वास उठ गया था और वह एक तरह से नास्तिक हो गये थे।

खण्ड-तीन

मथुरा से लौटने के बाद सवंत १९३४, सन् १८७७ में उनका विवाह, जालंधर के प्रमुख साहूकार और तहसीलदार श्री राम सालिग राम की पुत्री, शिवदेवी जी से

हुआ। अपनी पत्नी की जो कल्पना उन्होंने उस समय की थी वह किसी औपन्यासिक नायिका से कम नहीं थी। उन्होंने अपनी भावी पत्नी के लिए बहुत सामान भी इकट्ठा किया। लेकिन उनके सारे सपने तब भंग हो गये जब उन्होंने पाया कि उनकी वधु मात्र १२ वर्ष की सुकोमल, अबोध बालिका है। लेकिन इसी बालिका ने उनके जीवन को किस तरह से बदल दिया यह उस घटना से प्रमाणित हो जाता है जब वह शराब में धुत एक वेश्या के कोठे से घर लौटे थे और उसी अबोध बालिका ने कैसे एक माँ की तरह उनकी परिचर्या की थी। इस घटना ने उनके जीवन को एक बार तो झकझोर कर रख दिया। लेकिन मज्जागत संस्कार क्या आसानी से मुक्ति देते हैं । उन पर बार-बार चोट पड़ती थी और संवेदनशील होने के कारण वह प्रभावित होते थे जैसे एक अपराधी ने उनके पिताजी के सामने अपना अपराध यह कहते हुए स्वीकार कर लिया था—"भगवान राम से अधिक रामकर दासा" उसने पिताजी को राम भक्त माना और अपने इकबाल पर हस्ताक्षर कर दिये।

मुंशीराम पर एक घटना का बहुत प्रभाव पड़ा और रामायण पर उनकी श्रद्धा बढ़ती गई। यह आश्चर्य जनक बात है कि स्वामी दयानन्द ने तुलसी कृत रामायण को अपठनीय ग्रन्थ माना लेकिन मुंशीराम जी का रामकथा से अगाध प्रेम बना रहा। इस तरह की घटनाएं निरन्तर घटती रहती थी और साथ ही साथ उनकी शिक्षा भी चलती रहती थी। उनका वास्तविक विद्यार्थी जीवन बनारस में ही प्रारम्भ हो सका। बनारस में अपने दो वर्षों के जीवन में उन्होंने बहुत कुछ देख लिया था। यहीं रहकर क्वींस कॉलेज बनारस में (सन् १८७३ ई) प्रवेश ले लिया। इस कॉलेज की स्थापना १७९१ ई. में काशी राजकीय संस्कृत पाठशाला के रुप में हुई थी। इस कॉलेज में संस्कृत विद्या और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से समन्वित व्यक्तित्व वाले यूरोपीय विद्वानों का प्राचार्य बनाया गया। ऐसे ही एक प्राचार्य थे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान श्री आर. टी. एच. ग्रिफिथ। इन्हीं ग्रिफिथ साहब का स्वामी श्रद्धानन्द पर गहरा प्रभाव पड़ा। लेकिन उन्होंने कभी इस ओर एकाग्रचित्ता से काम नहीं किया। कभी इस विषय में दक्षता प्राप्त कर ली, कभी उस विषय में फेल हो गए। वास्तव में उन दिनों का उनका सारा जीवन ही अव्यस्थित रहा। कभी विलासिता की बाढ़ आती, कभी किसी घटना से चोट खाकर परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ते। जैसे काशी में पढ़ते समय जब उन्होंने विद्वानों के विद्यार्थी जीवन की कथा पढ़ी तो उन्होंने अपनी नवाबी पोशाक छोड़कर साधारण वस्त्र धारण कर लिए। उन्हीं के शब्दों में, 'सलमें सितारों' की जूती को ठोकर लगाकर लक्कड़तोड़ बूट पैरों का श्रृंगार बना।'

ऐसा ही द्वन्द्वात्मक जीवन जीते हुए कभी आवारगी करने लगते तो कभी संयमित जीवन की लालसा जग उठती। बरेली आने पर पिताजी तो पूजा पाठ और अपने काम

में लगे रहते लेकिन वह शराब और मुजरे का आनन्द लेते। मेज पर फैली किताबों को देखकर पिताजी यह समझते कि बेटा परीक्षा की तैयारी कर रहा है। इस प्रकार का जीवन पूरे सात महीने चला और तब उन्हें मालूम पड़ा कि परीक्षा किसी कालेज के द्वारा ही दी जा सकती है और पिताजी ने उन्हें अलीगढ़ भेज दिया लेकिन वहाँ जुआ और शराब का दौर चलता। उनकी ऐसी स्थिति देखकर पिताजी बहुत परेशान हुए, लेकिन तभी एक ऐसी घटना घटी जिसने मुंशीराम के जीवन को सचमुच ही बदल दिया। उन्हीं दिनों आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती अपना प्रचार करते हुए बरेली पधारे। उनके लिए व्यवस्था करने का भार सरकार ने मुंशीराम जी के पिता जो शहर कोतवाल थे, को सौंप दिया क्योंकि स्वामीजी धार्मिक भ्रष्टाचार पर तीव्र आक्रमण करते थे और उनके आक्रमण से तिलमिलाकर कुछ अवांछित व्यक्ति उनकी सभाओं में विघ्न डालते थे। ऐसा न हो यही देखने का भार श्री नानकचन्द जी पर था। पिताजी ने स्वामी जी के भाषण सुने और बहुत प्रभावित हुए और सोचा कि निश्चय ही इनके व्याख्यान सुन कर मुंशीराम सही मार्ग पर आ जाएँगे। उन्होंने मुंशीराम से कहा, "बेटा एक दण्डी स्वामी आए हैं बड़े विद्वान और योगीराज हैं उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जाएँगे। कल मेरे साथ चलना।

मुंशीराम जी वहाँ गए और स्वामीजी की दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई और जब पादरी स्काट और अन्य दो तीन यूरोपियनों को श्रद्धा से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। भाषण सुनते हुए उनके मन में विचार उठा – "यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्ति की बातें करता है कि विद्वान दंग हो जाएँ।" व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओउम' पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद मैं कभी भूल नहीं सकता। ऐसे नास्तिक को आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।

उनके व्याख्यान निरंतर सुनते-सुनते उनके मन में फिर द्वन्द मच उठा। वह स्वामी जी की विद्वता से प्रभावित होते। उनके तर्क उन्हें निरुत्तर कर देते परन्तु ईश्वर में उनका विश्वास फिर भी नहीं जमता था। उन्होंने स्वामी जी से कहा भी–"महाराज आपकी तर्कणा शक्ति बड़ी तीक्ष्ण है। आपने चुप तो करा दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।"

महाराज पहले हँसे। गम्भीर स्वर में कहा–"देखो तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिया। यह युक्तिकी बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास करा दूँगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे।

लेकिन विश्वासी बनाने में अभी बहुत देर थी। उनका गृहस्थ जीवन चलता रहा,

नौकरी उन्होंने की थी। पुराना जीवन बार-बार लौट आता था और फिर वह वही अस्थिर जीवन जीने लगते थे। एक पुत्री के पिता बन जाने पर भी वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये। लेकिन एक परिवर्तन अवश्य आया कि पढ़ने में उनका मन लगने लगा और उन्होंने एफ.ए. की परीक्षा भी पास करली। पिता उनको वकील बनाना चाहते थे। वकालत की परीक्षा तो वह अन्य अनेक कारणों से पास न कर सके पर मुख़्तार अवश्य बन गए। तब पता लगा की शीघ्र ही यह नियम बनने वाला है कि जो व्यक्ति बी. ए. पास न होगा वह वकालत की परीक्षा में न बैठ सकेगा। इसलिए उन्होंने फिर वकालत की परीक्षा में बैठने का निश्चय किया, परिश्रम भी खूब किया। पर एक पर्चे में दो अंक से रह गए। किसी ने सुझाया कि रजिस्ट्रार को रिश्वत दो, पास हो जाओगे, पर वह नहीं माने। इस तरह वह वकील नहीं बन सके, मुख़्तार ही रहे।

जब वह वकालत की परीक्षा देने के लिए लाहौर जाने वाले थे तब इस खुशी में उनके मित्रों ने दावतें दी और वहाँ वही हम प्याला हम निवाला साथियों की महफिल जमने लगी। एक बहुत बड़े वकील के यहाँ दावत थी। वहाँ पर शराब का जो दौर चला तो एक मित्र आपे से बाहर हो गए। उनको किसी तरह घर पहुँचा कर वह लौटे तो देखा उनके मेजबान बोतल खोले बैठे हैं। मैंने उन्हें किसी तरह से सोने के लिए जाने को कहा। वह गए और मैं फिर पीने लगा तभी साथ के कमरे से चीख की आवाज आई। उन्हीं के शब्दों में, "किवाड़ ढ़केल कर अन्दर पहुँचा, तो देखा, कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्र के हाथों में छटपटा रही है और वह उस पर पाशविक आक्रमण कर रहा है। उस समय बिजली की तरह आँखों में मेरे अन्दर की आँखों के सामने राजरानी का पवित्र चित्र घूम गया और मेरी धर्मपत्नी शिवदेवी जी की मानों मूर्ति स्थित हो गई। मैंने उस नराधम मित्र के दोनों हाथ पकड़ कर जैसे ढ़केल दिया। वह गिरा और देवी काँपती हुई अन्दर भाग गई। मेरा गत सारा जीवन मानसिक दृष्टि के आगे घूमने लगा और तब से पूरा वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिए प्रलोभन से मुक्त हो जाऊं। इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाए, शरीर में विभूति रमाए और हाथ में मोटा लट्ठ लिए सामने आ खड़ी हुई। ऐसा जांचा मानो महात्मा कह रहे हैं "क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा?" आँख मली, मूर्ति कहीं सामने न थी, परन्तु हृदय काँप उठा। गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर चूर हो गया। फिर बोतल उठा कर जोर से फेंकी वह भी दीवार में टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

यह मुंशीराम के अंधकारमय जीवन की अंतिम रात्रि थी।

खण्ड-चार

सन् १८८३ में दयानन्द सरस्वती की मृत्यु का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वर्षों बाद सन् १९२५ में महर्षि दयानन्द के प्रति आभार प्रकट करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा–"ऋषिवर, तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके , परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पटल पर ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी है इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है ... परन्तु अपने विषय में कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठा कर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया।"

मुंशीराम के सामने अब एक नया जगत था। वह ब्रह्म समाज आदि धार्मिक संस्थाओं के साहित्य का स्वाध्याय भी करते रहे। लेकिन उनसे वह सन्तुष्ट नहीं हो सके और अब इसी प्रक्रिया में उनका ध्यान आर्य समाज की ओर गया। स्वामी दयानन्द और उनके कार्य से तो वह पूर्व परिचित थे ही उनकी प्रतिभा और विद्वता से भी वह आतंकित थे। उनकी भाषण कला पर तो वह मुग्ध थे। उन्होंने पंडित लेखराम द्वारा स्वामी जी की जीवनी की भूमिका में कहा है – मैंने केशवचन्द्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और ऐनी बेसेंट आदि व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं पर मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज व्याख्यान ने किया और जो फसाहत मुझे उस रोज के सादे शब्दों में मालूम हुई वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। "महाराज ने सत्य के बल पर बोलना आरम्भ किया। पादरी स्काट को छोड़कर पहले दिन के सब अंग्रेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे।...

ऋषि ने कहा, लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो हम तो सत्य ही कहेंगे।... आत्मा का न तो कोई हथियार छेदन कर सकता है और न उसे आग जला सकती है। यह कहकर वे गरजती हुई आवाज में बोले, "यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट कर दे... लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो यह दावा करता है कि वह मेरी आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर संसार में दिखायी नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊँ या नहीं। इसलिए जब उन्होंने आर्यसमाज के ग्रन्थ पढ़े तो एक दिन नियमित रूप से

आर्य समाज के सदस्य बन गए। फिर उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वह खूब स्वाध्याय करते थे। जिस दिन उन्होंने आर्य समाज मंदिर में पहला व्याख्यान दिया तो उस व्याख्यान ने उस समय के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला साईंदास जी को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने अपने मित्रों से कहा, "आर्य समाज में यह नई स्पिरिट आई है। देखें, आर्य समाज को तारती है या डुबो देती है।"

इसका उत्तर इतिहास ने दिया और इस पुस्तक का लिखा जाना इस बात का प्रमाण है कि स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के लिए जो कुछ किया वह दूसरा कोई और शायद ही कर पाता। यह सब एक दिन में नहीं हो गया था। लेकिन धीरे-धीरे उनकी मज्जा में आर्य समाज के संस्कार जड़ जमाते जा रहे थे। दुर्गुणों का रहा-सहा प्रभाव दूर होता चला गया। उन्होंने मांस खाना भी छोड़ दिया। जब मांस उनके सामने आया था तो उन्होंने कटोरे को उठाकर दीवार से दे मारा था। जब कुछ लोगों ने आपत्ति की तो उनके मन में द्वन्द्व उभर आया और उन्होंने मन ही मन समझ लिया कि मैंने अपने कायरपन के कारण ऐसा किया। बचपन में पड़े हुए अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शांति से काटने की शक्ति किन्हीं बिरले बहादुरों में ही होती है। अपने को खोल देने की प्रवृत्ति उनमें पहले भी थी, अभी भी बराबर बनी रही। यही तो उन्हें गर्त से निकाल कर उन्नति की ओर ले जा सकी।

उनके पिता जी सनातन धर्म के प्रबल समर्थक थे। पुत्र को आर्य समाज में इतने गहरे डूबते देख कर उन्हें मन ही मन चिन्ता होने लगी थी। एक दिन जब मुंशीराम लाहौर जाने के लिए उनसे आज्ञा लेने आए तो उन्होंने उन्हें आशीर्वाद देते हुए एक थाली में मिठाई और अठन्नी रख कर कहा, 'जाओ पुत्र। ठाकुर जी को मत्था टेक कर विदा हो। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भगवान के पायक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें।' मैं इतना सुनते ही सुन्न हो गया। तब पिता जी ने समझा कि मैं आठ आने की भेंट देवता के लिए कम समझता हूँ और उन्होंने अठन्नी उठवाकर एक रुपया रखवा दिया तब मुंशीराम जी ने कहा, 'पिता जी यह बात नहीं है, किन्तु मैं अपने माने हुए सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता हूँ।' पिताजी ने क्रोध से भरे हुए शब्दों में कहा, 'क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु पत्थर समझते हो। इस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था। न जाने कैसे धृष्टता से मैंने कहा, 'परमात्मा से नीचे अपने लिए मैं आपको ही समझता हूँ किन्तु हे पिता! क्या आप चाहते हैं कि आपकी संतान मक्कार हो?' पिताजी की जबान भी कुछ लड़खड़ा गई –"कौन अपनी संतान को मक्कार देखना चाहता है?" मैंने उस समय को जीवन की रक्षा व मृत्यु प्राप्ति का समय समझा और कहा– तब मेरे लिए तो यह मूर्तियां इससे बढ़कर कुछ नहीं और यदि मैं उनके आगे भेंट धर कर सिर झुकाऊँगा तो वह मक्कारी होगी। किन्तु उस

पर पिताजी के हृदय बेधक शब्द सुनकर मुझ में कुछ शक्ति ही नहीं रही।" "हा! मुझे विश्वास नहीं कि मरने पर मुझे कोई पानी देने वाला भी होगा, अच्छा भगवान जो तेरी इच्छा?" मैं मानों धरती में गड़ गया, पैर वहीं के वहीं रहे। दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिता जी ही कुछ बोले। फिर उन्होंने धीरे से कहा–"अच्छा अब जाओ देर होगी।"

इस घटना को लेकर उनके अन्तर में काफी द्वन्द्व मचा। लेकिन उन्होंने लौटना नहीं सीखा था। वह निरन्तर आर्य समाज से जुड़ते गए। और एक दिन ऐसा आया कि उनके पिताजी उनके काम से बहुत प्रभावित हुए। एक दिन जब मुंशीराम जी जालंधर आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग में भाग ले रहे थे तो उन्हें सूचना मिली कि पिताजी आ गए हैं। वह उसी समय उनके पास पहुँचे। पिताजी ने पूछा कि क्या समाज का अधिवेशन समाप्त हो गया। मुंशीराम जी ने उत्तर दिया केवल भजन और आरती रह गई थी। आपका आगमन सुनकर आ गया।

पिताजी ने वड़े प्रेम भरे शब्दों में कहा, "क्या जल्दी थी समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना था।" यह सुन कर मुंशीराम जी चकित विस्मित–से पिताजी की ओर देखते ही रह गए। लेकिन पिताजी में केवल इतना ही परिवर्तन नहीं आया था। अपनी वसीयत करते समय वड़े प्रेम से उनसे कहा, "जितना पहले मैं तुम्हारे आर्य समाज में प्रवेश से असंतुष्ट हुआ था उससे बढ़कर अब मुझे सन्तोष है। तुम्हीं मेरी धार्मिक आशाओं को पूरा करोगे।"

इस वसीयत में उन्होंने वड़ा भाग मुंशीराम जी को दिया था। लेकिन मुंशीराम जी यह स्वीकार नहीं कर सकते थे। उन्होंने कहा, यदि वसीयत कर देंगे तो मैं अपना भाग लेने से भी इन्कार कर दूँगा किन्तु यदि आप इस वसीयतनामे को फाड़ देने की आज्ञा दें तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जिन धर्म कार्यों के मुझसे पूर्ण कराने का आपका संकल्प है, उनकी पूर्ति में ही मैं यथाशक्ति अपने जीवन को लगाऊँगा। और पिताजी की सहमति पाकर उन्होंने उसको फाड़ डाला। और उनके चरणों में सिर रख कर जालंधर लौट गए।

आर्य समाज में उन दिनों शास्त्रार्थ बहुत होते थे लेकिन वह प्राय: संस्कृत में होते थे। सबसे पहले १८८६ में, एक शास्त्रार्थ में आर्य भाषा का प्रयोग किया गया। एक बार शुरू होने पर फिर मुंशीराम जी ने आर्यभाषा में ही शास्त्रार्थ करने की हठ की। उसके बाद उन्होंने आर्य भाषा में ही शास्त्रार्थ करने पर वल दिया और उसके वाद आर्यभाषा यानी हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा। आर्य समाजी हिन्दी को आर्यभाषा कहते हैं।

इसी समय उनके पिताजी बहुत बीमार हो गए और कुछ समय बाद ही उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन्होंने कहा—"वैदिक हवन कराओ।" और जिस समय वह अंतिम श्वास ले रहे थे तब भी उन्होंने वैदिक हवन करवाने की आज्ञा दी। पुत्र की धर्मनिष्ठा में पिता का कितना विश्वास हो गया था।

इसके बाद मुंशीराम जी आर्य समाज के प्रचार में जुट गए। और धीरे धीरे उनके प्रति लोगों में श्रद्धा और आदर का भाव बढ़ता चला गया। इसी समय उनका सम्बन्ध नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के (संवत-१९४५, मई-१८८८) साथ हुआ। नेशनल कांग्रेस के विषय में वह पढ़ते रहते थे। लेकिन इस वर्ष यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस कमेटियाँ प्रत्येक जिले में बननी चाहिए। बड़े प्रयत्नों के बाद जालंधर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना हुई और आश्चर्य है कि कांग्रेस के उद्देश्यों के साथ सहानुभूति का प्रस्ताव खान बहादुर फजल करीम खाँ साहब वाइस प्रेसीडेंट म्युनिसिपैलिटी ने पेश किया और समर्थन सनातन धर्म सभा के प्रधान लाला हरभजराय आनरेरी मजिस्ट्रेट ने किया। उपस्थित लोगों में आनरेरी मैजिस्ट्रेट म्यूनिसिपल कमिश्नर, जमींदार, सेठ-साहूकार सभी लोग थे। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इससे पहले सर सैयद अहमद कांग्रेस के विरुद्ध व्यवस्था पत्र निकाल चुके थे। जो भी हो आर्य समाज के साथ-साथ मुंशीराम जी कांग्रेस के कार्यों में भी रुचि लेने लगे। उसी वर्ष उन्होंने वर्ण-व्यवस्था पर एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। इसी वर्ष उन्होंने अपना बड़ा मकान 'आर्य-प्रतिनिधि सभा' पंजाब की सेवा में अर्पित कर दिया। उनकी व्यस्तता का और नये-नये विचारों को कार्य रूप में परिवर्तित करने की कोई सीमा नहीं थी। एक दिन जब वह कचहरी से लौटे तो उनकी बड़ी बेटी वेद कुमारी ने बड़े उत्साह से एक गीत सुनाया—

एक बार ईसा-ईसा बोल
तेरा क्या लगेगा मोल
ईसा मेरा राम रमैया
ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया

यह गीत सुनकर वह बहुत व्यथित हुए। उनके अन्तर में घमासान मच उठा और अन्त में एक दिन उन्होंने "आर्य पुत्री पाठशाला" खोलने का निश्चय किया। और अंततः इसकी परिणति सुप्रसद्धि कन्या महाविद्यालय जालंधर की स्थापना में हुई। कुछ स्वस्थ होने पर इसी मास में (अक्टूबर १८८८) एक नये काम की बुनियाद डाली गई जिसने उनके चिरकाल के विचार को क्रिया में परिणत कर दिया। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि शिक्षा को लोकप्रिय बनाने का क्षेत्र उन्होंने पुरुषों तक ही सीमित नहीं रखा

था। आर्य कन्याओं, पाठशालाओं तथा गुरुकुलों को भी उन्होंने समान महत्त्व दिया। इन आर्य कन्या पाठशालाओं के दौरान ही हिन्दी ने, घरों में प्रवेश पाया। कन्या महाविद्यालय जालंधर इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है।

इसी विचार मंथन में से पत्र निकालने का विचार भी पैदा हुआ। जो अंततः साप्ताहिक उर्दू पत्र सद्धर्म प्रचारक के रूप में फलित हुआ। इसका पहला अंक १९ फरवरी १८९० में प्रकाशित हुआ।

उनका जिन प्रसिद्ध व्यक्तियों से सघन परिचय हुआ उनमें पंडित गुरुदत्त प्रमुख थे। जब भी उन्हें कोई शंका होती वह प्रायः उन्हीं से विचार विनिमय करते थे लेकिन दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु बहुत जल्दी ६ मार्च १८९० ई. में हो गई।

जब वह इस प्रकार आर्य समाज द्वारा प्रचारित समाज सुधार के कामों में रचनात्मक रूप से भाग ले रहे थे या जैसा कि हमने कहा उन्होंने स्वयं को इन कामों के लिए समर्पित कर दिया। इसी समर्पण के कारण वह मात्र मुंशीराम नहीं रह गए थे बल्कि महात्मा मुंशीराम हो गये थे।

उसी समय उन्हें घोर विपत्ति का सामना करना पड़ा। उनकी धर्मपत्नी निरन्तर उनकी शक्ति बनी हुई थी। पाँचवी सन्तान के जन्म के बाद अचानक संघातिक रोग से बीमार हो गई। उन्होंने और उनके परिवार ने उन्हें बचाने के लिए जो कुछ किया जा सकता था, किया। लेकिन विधि का विधान तो अटल है। वह स्वयं समझ गई थी कि वह अब नहीं बच सकेगी तब उन्होंने अपनी बेटी से अपना कलमदान माँगा। एक पर्चे पर कुछ लिखा और उसके निचले खाने में रख दिया। सबको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। माँ से कहा, "मुझसे बड़े अपराध हुए हैं। जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये थी वह मेरी सेवा कर रहे हैं।" माँ ने प्यार से सहलाते हुए पूछा, "बच्चे किसके सुपुर्द कर चले हैं।" बोली—"आप पल जाएंगे" फिर उन्होंने पति की ओर देखते हुए इतना ही कहा—"बाबूजी, बाबूजी" इसके बाद पुकारा 'ओउम'। और मृत्यु से पूर्व यही उनके शरीर की अन्तिम क्रिया थी।

अन्तिम संस्कार के बाद बेटी ने वह पर्चा पिता को दिया जो वह लिखकर गयी थी। उसमें लिखा था-"बाबूजी ! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जाएगी, परन्तु इन बच्चों को कभी नहीं भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो।" मुंशीराम जी ने लिखा है कि "रात को सब बच्चों को सुलाकर, मैंने एक घन्टे तक परमात्मा से बल के लिए प्रार्थना की और यह दृढ़ व्रत धारण किया कि बच्चों के लिए माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूंगा।" "देवी के अन्तिम संदेश ने मेरे अन्दर मातृभाव का संचार करके मुझे इस

योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूं जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है।"

खण्ड-पाँच

अब उनका जीवन निजी नहीं रह गया था। विशेषकर जब पंजाब के समस्त आर्यसमाजों की प्रतिनिधि सभा का उन्हें प्रधान चुना गया तो उनका जीवन पूर्ण रूप से सार्वजनिक हो गया और उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की तैयारी कर दी। इस तैयारी में नौ वर्ष व्यतीत करके उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया।

भारतीय नव-जागरण में स्वामी श्रद्धानन्द जी की क्या भूमिका रही है इसका आकलन करने से पूर्व १९वी सदी के भारत पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। यह सदी भारतीय मेधा की सबसे बड़ी पहचान है। वहाँ मात्र प्रश्न ही नहीं गूंजते बल्कि उन प्रश्नों को उठाने वाले कर्म की तूफानी लहरों से जूझते भी दिखाई देते हैं। तमस के विरुद्ध बेलाग लड़ाई लड़ने और आत्मबलिदान करने की अद्भुत क्षमता दिखाई देती है उनमें।

भले ही यह युग अपने स्वरूप में सामन्ती रहा हो पर सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम न केवल नए भारत के निर्माण का प्रतीक है जो अपने ही भीतर पनप रही अन्धकार की शक्तियों से जूझने की राह दिखाता है। अंग्रेजों ने अमानुषिक अत्याचार द्वारा स्वाधीनता संग्राम को दबा जरूर दिया परन्तु उसी के कारण जहाँ एक ओर एकदेश की प्राचीन कल्पना फिर से रूप लेती दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर यह अनुभूति भी तीव्र होती है कि राजनीतिक स्वतंत्रता से पहले हमें अपने ही अन्तर में पनप रहे नाना रूप अंधविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और अविद्या के अंधकार से मुक्ति पानी होगी। एक के बाद एक उभरने वाले सुधार आन्दोलन इसी अनुभूति का परिणाम हैं। ये आन्दोलन हमें अपने उज्जवल भूत और विकृत होते वर्तमान की समझ ही नहीं देते, बल्कि एक गरिमामय भविष्य बनाने की प्रेरणा भी देते हैं।

सन् १८५७ की क्रान्ति से पूर्व सन् १८२८ ई. में नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने जिस ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी वह पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित था। उसने सती-प्रथा, बाल-विवाह, जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था आदि का प्रबल विरोध किया। बम्बई में इसी समाज के आधार पर प्रार्थना समाज की नींव पड़ी। उनके नेताओं में प्रमुख थे डा. भंडारकर और न्यायमूर्ति रानाडे। इसके अतिरिक्त शेष उत्तर भारत में जिस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव हुआ वह आर्यसमाज के झंडे के नीचे आरम्भ हुआ था। इसी समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में की थी। स्वामी जी जन्म से गुजराती थे और राजा राममोहन राय के विपरीत प्राच्य

सभ्यता के उपासक थे। वे संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने वेदों के आधार पर बाल-विवाह, अनमेल विवाह, अशिक्षा, छूतछात, मूर्तिपूजा और जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रबल विरोध किया और विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री शिक्षा, कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था तथा विदेश यात्रा का पूर्ण समर्थन किया। मुंशीराम ने खूब देख परख कर अपने को इसी उभरती हुई शक्ति के प्रति समर्पित कर दिया था और यह समर्पण संपूर्ण था लेकिन जैसे हमने कहा है कि निरन्तर विकसित होती हुई शक्तियों को बाहरी संकटों से उतना डर नहीं होता जितना आंतरिक संकटों से। यह संकट पहले मतभेद के रूप में उभरता है। मतभेद जब तक रचनात्मक रूप में रहते हैं वे किसी भी समाज की शक्ति ही बनते हैं लेकिन जाने अनजाने ऐसा भी होने लगता है कि उन मतभेदों के साथ व्यक्ति का अहम् जुड़ जाता है, तब वे ही मतभेद जो प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे, घुन बनाकर समाज को अंदर ही अंदर कमजोर करने लगते हैं।

दुर्भाग्य से आर्य समाज के साथ भी कमोवेश ऐसा ही हुआ। वह शीघ्र ही दो दलों में बंट गया। इतिहास साक्षी है कि दोनों दलों के अग्रणी नेताओं ने उन मतभेदों को रचनात्मक रूप देने की पूरी कोशिश की, इसलिए जहाँ एक ओर पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के संरक्षण में दयानन्द एंग्लो वैदिक शिक्षा संस्थाओं का उदय हुआ वहीं दूसरी ओर स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयत्नों से गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ने जन्म लिया। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने, जिन्होंने अपने पिता महात्मा मुंशीराम को बहुत पास से देखा था और मतभेद होने पर अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखने का साहस भी दिखाया था, अपनी पुस्तक 'मेरे पिता' में लिखा है—"पिताजी के जीवन में क्रान्ति के बीज बहुत काल से बोये जा चुके थे। बरेली में ऋषि दयानन्द के दर्शनों से क्रान्ति का जो बीज बोया गया वह धीरे-धीरे अंकुरित होकर पल्लवित हो रहा था। इस घटना चक्र ने, जिसकी अंतिम सामाजिक घटना, आर्य पथिक पंडित लेखराम जी की मृत्यु के बाद आर्य समाज का महात्मा और कालेज पार्टियों में एक संघर्ष का फिर फूट पड़ना था और अन्तिम पारिवारिक घटना डा. गुरुदत्त जी का विवाह था, पिताजी के जीवन को एक दम नयी धारा में डाल दिया। क्रान्ति का प्रवाह तीव्र हो गया जिसकी टक्कर से घर-गृहस्थी की रिवाजी दीवारें धड़ाधड़ गिरने लगीं।

उन्होंने परिजनों के तीव्र विरोध करने पर भी डा. गुरुदत्त का विवाह एक विधवा श्रीमती सुमित्रा देवी से कराया था। इन्द्रजी के शब्दों में, "उस समय विधवा विवाह हिन्दुओं के लिए ही नहीं, आर्य समाजियों के लिए भी एक नई और साहसिक चीज थी। नई और साहसिक चीज को कर डालना पिताजी का स्वभाव था।"

इसी स्वभाव ने ही तो एक समय ऐश्वर्य और विलास में डूबे रहने वाले मुंशीराम को अमर शहीद श्रद्धानन्द बना दिया। लाला मुंशीराम से अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

बनने तक की यह रोमांचक यात्रा मनुष्य के अजेय विश्वासों और संकल्पों की विजय यात्रा है। वास्तव में आर्य प्रतिनिधि सभा ने २६ नवम्बर १८९६ ई. को श्री गोविन्दपुर आर्य समाज में पारित हुए प्रस्ताव के अनुसार गुरुकुल की स्थापना का निर्णय लिया और मुंशीराम जी से इसकी योजना तैयार करने का अनुरोध किया। उन्होंने एक दिन प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिए तीस हजार रुपये इकट्ठा न कर लूँगा तब तक घर में पैर न रखूंगा। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति जी इस घटना का वर्णन करते हुए लिखते हैं–"पिताजी प्रायः लाहौर जाते रहते थे। अधिकतर आर्य समाज के काम से और कभी-कभी मुकद्मों के प्रसंग में लाहौर जाते थे, तो दूसरे या तीसरे दिन वापिस आ जाते थे। वापिस आने की गाड़ी की सूचना जाते हुए दे जाते थे। ठीक समय पर घोड़ा गाड़ी स्टेशन पर पहुँच जाती थी। पिताजी के घर आने की सूचना हम लोगों को अनायास ही मिल जाती थी, क्योंकि गाड़ी पर से उतार कर बिस्तर और यात्रा का अन्य सामान अन्दर लाया जाता था।

" एक दिन हम लोग बहुत आश्चर्यान्वित हो गए, क्योंकि पिताजी का सामान गाड़ी से उतार कर घर नहीं लाया गया। कोचवान ने अंदर आकर कहा कि बाबूजी ने अपना सामान आर्य समाज मंदिर में ही उतरवा लिया है और कहा है कि घर पर जाकर खबर कर दो। इस समाचार ने घर भर में तहलका मचा दिया। ताई जी पहले तो स्तब्ध सी रह गई, फिर पिताजी के इस अनौचित्य पर काफी जोरदार टिप्पणीं करने लगे। हम चारों बच्चे घबरा कर ताई जी के चारों ओर इकट्ठे हो गए। नौकर एक ओर खड़ा आँखों से आँसू बहा रहा था। हमारे ताया जी, जो परिवार के मौन धारी सदस्य थे, कुछ पीछे हाथ में हुक्का लिए हुए ड्योढ़ी से घर के अंदर आये और ताई जी को दिलासा देने लगे। जहाँ तक मुझे याद है, उनके दिए हुए दिलासे का सारांश था कि मुंशीराम हमेशा से ऐसा ही रहा है, जो दिल में आता है वही करता है। तुम चिन्ता न करो, अपने आप घर आ जाएगा। परन्तु ताई जी घर के मामले में ऐसे वैराग्य से संतुष्ट होने वाली नहीं थी। उन्हें यह संदेह हुआ कि पिताजी किसी बात से नाराज होकर घर नहीं आ रहे हैं। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि समाज मंदिर में जाकर नाराजगी का कारण पूछा जाए। वह वहाँ गयी। उनकी घबराहट देखकर शांत करते हुए प्रारम्भ में ही पिताजी ने कहा, "भाभी, मैंने लाहौर में प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिए तीस हजार रुपया इकट्ठा न कर लूंगा तब तक घर में पैर नहीं रखूंगा। इसी कारण समाज में ठहरा हूँ घबराने की कोई बात नहीं।"

यह राशि इकट्ठा करने में छह महीने लगे। इसके बाद जब वह घर लौटे, उसका वर्णन करते हुए इन्द्रजी लिखते हैं–हम दोनों भाई उस रात जीवन में पहली बार अपने पिताजी के दोनों ओर चारपाई पर सोये। उस रात सोने से पहले पिताजी हमारी

चारपाइयों पर आये और प्रत्यक्ष में प्यार किया। वह अनुभव हमारे बाल्य-जीवन में बिल्कुल अपूर्व था, अन्यथा सदा पिताजी हम से दूर-दूर रहकर वात्सल्य भाव रखते रहे। कभी उसे अनुभव में नहीं आने दिया। उस रात उन्होंने प्रेम से हम दोनों के सिरों को चूमा। हम दोनों भाइयों ने उस समय मानों स्वर्गीय सुख का अनुभव किया।

मुंशीराम जी का अन्तर मन तो बहुत पहले ही बदल चुका था। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के संकल्प के साथ ही बाल व्यक्तित्व में भी बदलाव आ गया। सिगरेट, हुक्का और पान एक-एक करके विदा हो गए। कोट, पैन्ट, नेक टाई उन लोगों में बांट दिए जिन्हें उनकी आवश्यकता थी और बूट की जगह गमाशाही जूता आ गया।

मुंशी अमन सिंह द्वारा दी गई लगभग ७०० बीघे जमीन पर सन् १९०२ में कैसे गुरुकुल की नींव पड़ी यह सभी जानते हैं पर प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में हम उसके प्रारम्भिक रूप की एक झलक अवश्य देना चाहते हैं। इन्द्र जी गुरुकुल में प्रवेश पाने वाले पहले दल में थे। वे लोग प्रशिक्षण के रूप में अभी गुंजरावाला में पढ़ रहे थे। वहाँ से वे हरिद्वार आए। "भयंकर जंगल पार करके उस भूमि तक पहँचने में उन्हें साढ़े नौ घन्टे लगे। वैसे यह फासला कुल चार मील का था। कल्पना की जा सकती है कि कैसा मार्ग रहा होगा वह। जब वे वहाँ पहुँचे तो रात घिर आयी थी। आकाश में चाँदनी के धवल प्रकाश में जो सुन्दर दृश्य उन्होंने देखा था उसे वे कभी न भूल सके, घने जंगलों के बीचों-बीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया था। उसमें एक ओर फूंस के छप्परों की एक लम्बी पंक्ति थी जो छात्रों के रहने का आश्रय स्थान था। उसके साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परों की पंक्ति में भोजन भंडार था उनके बीच के कोने में एक स्विस काटेज लगा हुआ था जो प्रधान जी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी। उन छप्परों से कुछ दूर दो छप्पर डाल कर गोशाला बनाई गई थी। यह फूंस के छप्परों का डेरा उस खिली चाँदनी में अद्भुत शोभा दिखा रहा था। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़े पर पहुंच गए हैं। यह गुरुकुल का प्रारम्भिक रूप था।"

उस प्रारम्भिक रूप से वर्तमान शहरी रूप तक पहुँचने में कितना समय लगा, कैसे कैसे कड़वे और मीठे अनुभव हुए गुरुजनों और ब्रह्मचारियों की कैसी-कैसी क्रान्तियां हुई, यह अद्भुत कहानी कितनी रोमांचक हो सकती है, इसकी कल्पना करना भी आज असम्भव जैसा है। सत्य सदा कल्पना से अधिक चकित कर देने वाला होता है। क्या कोई इस बात पर विश्वास करेगा कि जब गुरुकुल में कड़वे तेल के स्थान पर मिट्टी के तेल के प्रयोग का प्रस्ताव आया तो उसके विरुद्ध तीव्र आंदोलन शुरू हो गया था पर प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में, "ब्रह्मचारियों में प्रधान जी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब प्रधान जी की

आज्ञा से मिस्तरी मग्घर सिंह कमरों में बड़ी लालटेन लटकाने के लिए आया तो कोई अप्रिय घटना नहीं हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप में पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश किया।

इस तरह के परिवर्तन हर क्षेत्र में आते चल गए। कुछ परिवर्तन ऐसे हुए जिनको लेकर प्रारम्भिक साधकों में मतभेद हो गए और कुछ सहयोगियों ने गुरुकुल छोड़ दिया, कुछ ने उस पार जाकर महाविद्यालय ज्वालापुर की स्थापना की। इन सबका विश्लेषण करना यहाँ अप्रासंगिक है पर सब मतभेदों के बावजूद गुरुकुल के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था और वार्षिकोत्सव पर उपस्थिति सन् १९०२ ई. में तीन हजार से बढ़कर सन् १९१२ ई. में पिछत्तर हजार तक पहुँच गई थी। नाना क्षेत्रों के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति भी समय-समय पर गुरुकुल आते थे। उन्हीं दिनों की याद करते हुए सन्तसाहित्य के मर्मज्ञ पं. परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ३१ जनवरी, १९७८ ई. के पत्र में डा. विष्णु दत्त राकेश को लिखा–"आज संयोगवश मुझे सहसा स्मरण हो आया कि किस प्रकार मैं आपकी प्राचीन संस्था को देखने उस समय वहाँ पहुँचा जिस समय महात्मा मुंशीराम जीवित रहे तथा जब उन्होंने मुझे अपने स्नेह भाव के साथ अपने बचपन में बलिया रह चुकने तक का भी स्मरण कराया था।"

कैसी कठिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता था उन दिनों, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उन दिनों गंगा पर बने नावों के कच्चे पुलों को पार करके ही गुरुकुल पहुँचा जा सकता था। किसी-किसी वर्ष तो ठीक उत्सव के दिनों में अधिक वर्षा हो जाने के कारण गंगा में जल बढ़ जाता था और पुल टूट जाता था। जब प्रधान जी कंधे पर पीला दुपट्टा डाल कर और लम्बी लाठी हाथ में लेकर ब्रह्मचारियों के पास आते थे और कहते थे कि चलो पुल बनाएंगे।

और सचमुच ब्रह्मचारी, उनके अधिष्ठाता और कारीगर सब मिल कर कुछ ही घन्टों में पुल तैयार कर देते थे। एक बार पुल बनने में कुछ देर हो गई और दर्शक कनखल की ओर किनारे पर जमा होने लगे, तब इन्द्र जी के शब्दों में "प्रधानजी ने उसी समय खाने का बहुत-सा सामान गुरुकुल से मंगवाकर मे तमेड़ी पर परली पार भेज दिया और कहला भेजा कि आप लोग वापिस न जाएं। हम सब पुल पूरा होने पर ही खाना खाएंगे। इस पर जो यात्री तैरना जानते थे, गंगा में कूद पड़े और पुल बनाने में हमारी सहायता करने लगे। जहाँ तक याद है दिन के दो बजे तक पुल पूरा हो गया और गुरुकुलवासी यात्रियों को साथ लेकर गुरुकुल की ओर रवाना हो गए।"

लेकिन सन् १९२४ ई. में गंगा में जो भंयकर बाढ़ आई उसने गुरुकुल के विशाल भवन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तब इसे अन्यत्र ले जाने का निश्चय किया गया। पं. विश्वम्भरनाथ के अथक परिश्रम से कनखल ज्वालापुर मार्ग के दक्षिण में ६०० बीघे भूमि क्रय कर ली गई। उस भूमि पर नया भवन बना कर गुरुकुल को वहाँ

स्थानान्तरित कर दिया गया और आज भी वह वहीं पर है।

यह एक झलक मात्र है उन प्रारम्भिक कठिनाइयों की जिनसे मुंशीराम को जूझना पड़ा था। जो नए पथ का निर्माण करते हैं उन्हें तपना ही पड़ता है। बिना तपे तो प्रभु भी वरदान नहीं देते पर यह तपना शरीर सुखाना नहीं है, पराई पीर में तपना है। शब्द को पकड़ना नहीं है, अर्थ को जीना है। लाला मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द तक पहुँचने की यह मात्रा पराई पीर में तपने और शब्द के अर्थ को रूपायित करने की यात्रा है।

स्वामी दयानन्द ने पहचान लिया था कि अन्दर के तमस और बाहर के झंझावतों से जूझने के लिए सबसे पहले शिक्षा की परम आवश्यकता है, इसीलिए प्रचार के साथ-साथ वैदिक पाठशालाएं स्थापित करने का भी प्रयत्न किया था। और उनके बाद उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में जो काम किया उसे सभी ने एक स्वर में अभूतपूर्व कहा है। एक समय तो सारे भारत में दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल-कालेजों, गुरुकुलों और कन्या पाठशालाओं का जाल विछ गया था।

उनकी सफलता-असफलता और औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है। इतना जान लेना पर्याप्त है कि अतीत संस्कृति का अपूर्व भंडार है। उसको नकार कर न तो वर्तमान का निर्माण किया जा सकता है न भविष्य की कल्पना की जा सकती है। महात्मा मुंशीराम पुरातन शिक्षा पद्धति को अपना कर पुरातन का मात्र अमूर्त गुणगान ही नहीं करना चाहते थे बल्कि जो नवीन है उसमें समोकर उसे ठोस व्यावहारिक भूमि पर परख-देखना चाहते थे। वह कितने सफल हुए, हुए भी या नहीं, यह प्रश्न भी यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि विजय मंजिल तक पहुँच जाने का नाम नहीं है। उसकी कसौटी तो उद्देश्य को पाने के लिए किया जाने वाला अनवरत संघर्ष है। महान वही व्यक्ति होता है जो विचार को कर्म में रूपांतरित करने का लक्ष्य सामने रखता है। महात्मा गाँधी से किसी ने पूछा, आप महान क्यों हैं?

महात्मा जी ने उत्तर दिया था कि "वे महान् नहीं है लेकिन अगर महान होने का अर्थ है कि उनके विचार उनके कर्म से दस कदम पीछे रहते हैं तो संभवत: महान हो सकते हैं।"

महात्मा मुंशीराम जी को इसी अर्थ में महान कहा जा सकता है। भारत के सामाजिक और राजनीतिक नव-जागरण में अकेले गुरुकुल कांगड़ी का जो योगदान रहा है उसका तटस्थ मूल्यांकन यदि किया जाए तो उसके परिणाम पर कोई भी देश गर्व कर सकता है।

अठारह वर्ष गुरुकुल के आचार्य पद पर सुशोभित रह कर जहाँ एक ओर उन्होंने ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार किया, छात्रों में राष्ट्रीयता और निर्भीकता के भाव जागृत किए और राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया, वहीं दूसरी ओर अनेक

विदेशियों को भी आकर्षित किया। कुछ व्यक्ति यहाँ हिन्दी पढ़ने के लिए आते थे। कुछ यहाँ हो रहे प्रयोगों से आकर्षित होकर आते थे और यहाँ के वातावरण पर मुग्ध हो जाते थे। जैसे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और सनातन धर्म के आधार स्तंभ पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर। इन्होंने वेदों का बहुत सरल भाषा में अनुवाद किया। और गुरुकुल में कुछ काल तक अध्यापक का कार्य भी किया।

प्रो. इन्द्र ने अपने पिता की जीवनी में ऐसे अनेक प्रसंगों का रोचक वर्णन किया है। उनके शब्दों में, "१९०९-१० के लगभग दिल्ली के सेंट स्टीफन्स कालेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गए थे जैसे दो बहनों के होते हैं। दीनबन्धु सी.एफ. एंड्रूयूज और प्रिंसीपल रुद्र का पिताजी से स्नेह हो गया था। उसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिए क्योंकि न तो उसमें किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही यह स्नेह पैदा हुआ था।

स्वामी जी में एक और अद्भुत गुण था। वह अद्भुत वक्ता थे। उनके पुत्र इन्द्र जी ने लिखा है कि वह भारत वर्ष में अपने समय के ऐसे वक्ताओं में से थे जिन्हें जनता पर प्रभाव उत्पन्न करने वाला सर्वमान्य वक्ता कहा जा सकता है। जहाँ भी वह जाते, लोग उनको सुनने के लिए लालायित रहते थे। उनकी सफलता का रहस्य यह है कि वह केवल बोलने के लिए नहीं बोलते थे उनके अन्दर से कोई प्रेरणा उठती थी। उनके शब्द कण्ठ से नहीं बल्कि हृदय से निकलते थे। श्रद्धा और गहरी धार्मिक भावना के कारण उनकी आन्तरिक प्रेरणा गम्भीर और तेजस्विनी होती थी, इसीलिए जो कुछ वह कहते थे वह श्रोताओं के हृदयों को बेंध देता था। उनका विशाल शरीर, भव्य मूर्ति और गंभीर तथा ऊँचा स्वर, उनका यह रूप उनके उद्‌गारों को जनता के अन्तर को छूने में सहायक होता था। अभी तक वह महात्मा मुंशीराम के नाम से ही प्रख्यात थे लेकिन अप्रैल १९१७ई. में उन्होंने संन्यास लेने का निश्चय किया। इन्द्र जी को इनका यह प्रस्ताव रुचिकर नहीं लगा। उन्होंने अपनी आपत्ति प्रकट करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा, 'संन्यास की प्रथा देश और जाति के लिए बहुत हानिकारक है। आप तो पहले ही संन्यासी है, वेश बदलने से क्या हो होगा। संन्यास लेने पर भी आपको सार्वजनिक कामों से छुट्टी नहीं मिलेगी।"

महात्मा जी अपने पुत्र की यह बात सुनकर चकित अवश्य हुए पर नाराज नहीं हुए और बड़े प्यार से अपनी बातें उन्हें समझाते हुए बोले—"इन्द्र तुम्हें तो मालूम ही है कि युक्ति के आधार पर कोई कदम नहीं उठाता। केवल श्रद्धा से प्रेरित होकर ही उठाता हूँ। यह निश्चय भी मैंने श्रद्धावश किया है और यह निश्चय अटल है।"

यह समाचार सारे गुरुकुल में फैल गया। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी समझ के अनुसार ही इसका अर्थ लगाया। उन्होंने इन्द्र जी से इस सम्बन्ध में बात की लेकिन

सामान्यतः आर्य जनता उनके इस निश्चय से बहुत प्रसन्न थी। उसे पिताजी के त्यागमय जीवन का अंतिम चरण उचित ही प्रतीत हुआ। अधिकारियों में कुछ लोग इस कारण भी प्रसन्न थे कि महात्मा जी के संन्यास लेकर गुरुकुल के अलग हो जाने पर उन्हें बड़ा लाभ यह होगा कि उन्हें गुरुकुल का संचालन अपनी इच्छानुसार करने का अवसर मिल जाएगा। उनके पिताजी के विशाल व्यक्तित्व से वे आंतकित रहते थे और कुछ बोल नहीं पाते थे। लेकिन जो सबसे उँचे अधिकारी थे उन्हें इस विचार से बहुत दुख हुआ।

गंगा के इस पार मायापुर वाटिका में संन्यास-ग्रहण समारोह हुआ। गुरुकुल के उत्सव में उपस्थित, प्रायः नर-नारी मायापुर में ठहर गये। संस्कार के समय हजारों की भीड़ थी। आर्य समाज के बहुत से संन्यासी, पंडित तथा अधिकारी साक्षी रूप में उपस्थित थे।

संस्कार में सबसे विशेष बात यह हुई कि पिताजी ने किसी महानुभाव को अपना आचार्य न बनाकर परमात्मा को ही आचार्य माना और जो प्रक्रिया आचार्य द्वारा होनी चाहिए थी, वह स्वयं ही पूरी कर ली। इस पर कुछ संन्यासियों और पुराने ढंग के रूढ़िवादी आर्य लोगों में भी काफी असंतोष उत्पन्न हुआ। हल्की बुड़बुड़ाहट भी सुनाई दी। परन्तु जब पिताजी क्षौर कराकर और विधिपूर्वक भगवा वेश पहन कर यज्ञ मंडप में आए तो चारों ओर से जो प्रसन्नता सूचक जयकारों और तालियों की गड़गड़ाहट का शब्द उठा, उसमें सब विरोधी भावनाएं दब गई। अंत में पिताजी ने खड़े होकर निम्नलिखित आशय की घोषणा की :–

"मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धा पूर्वक ही करता रहा हूँ। मैने संन्यास भी श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर ही लिया है। इस कारण मैने 'श्रद्धानंद' नाम धारण करके संन्यास में प्रवेश किया है। आप सब नर-नारी प्रभु से प्रार्थना करें कि वह मुझे अपने नये व्रत को पूर्णता से निभाने की शक्ति दें।"

खण्ड–छह

लेकिन एक और वर्ग था जो वहाँ यह जानने के लिए आता था कि यहाँ विदेशी शासन को उखाड़ने का कौन-सा षड़यंत्र चल रहा है। गुप्तचर विभाग अजीब-अजीब खबरें सरकार को देता था। जैसे वहाँ ऐसे चित्र लटके हुए हैं जिनमें दिखाया गया है कि गोरों के आने से पहले भारत क्या था। और उनके आने के बाद क्या हो गया। उसने लाला लाजपत राय, सर अजीत सिंह और भाई परमानन्द को आर्य समाज के साथ जोड़ कर उसे बागी संस्था मान लिया। इस सम्बन्ध में १९१४ ई. में मजदूर दल के एक नेता श्री रेमजे मैकडानल्ड ने, जो बाद में इंग्लैंड के प्रधानमंत्री भी बने, लिखा था–इस उन्नतिशील शील धार्मिक संस्था आर्य समाज के सम्बन्ध में जितने भी

संदेह किये जाते है वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिए गए हैं। पुलिस के अफसरों ने इसके सम्वन्ध में गुप्त रिपोर्ट दी है और अधिकांश एंग्लो इंडियन लोगों ने इसकी निन्दा की है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें यहाँ काम में नहीं लाई जातीं। विद्यार्थियों को विद्यालय से उसकी उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घवराए हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से उसके लिए पहली यही योजना कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अंतिम राय नहीं हो सकती। मैकाले के वाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। मैकाले के प्रयत्नों के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असंतुष्ट है। किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी ओर से इस असंतोष को कार्यक्रम में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया गया।

दि न्यू स्टेटसमैन ने तो यहाँ तक लिख दिया था, "आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः शून्य, प्रतिभाहीन ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसीलिए वे इसमें राजद्रोह का संदेह करने के आदी हो गए हैं।"

संदेह की यह नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी। जालंधर में मुंशीराम जी सबेरे घूमने जाया करते थे। वहाँ के डिप्टी कमिश्नर कर्नल हाकोट भी जाते थे। दोनों में खूव बातें होती थी। लेकिन जब कर्नल को पता लगा कि मुंशीराम आर्य समाजी हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले, आप और आर्य समाजी? आप तो बड़े धार्मिक आदमी है। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते। उन्होंने उत्तर दिया कि वे आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्य समाज के प्रधान भी हैं। तव साहब बोले-परन्तु लाहौर आर्य समाज तो एक पोलिटिकल संस्था है। जालन्धर आर्य समाज चाहे न हो। तब मुंशीराम जी ने कर्नल साहब को आर्यसमाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाए और बतलाया कि वे लोग आर्य तथा श्रेष्ठ पुरुष बनना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इस पर साहब बड़े उदार भाव से बोले 'फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।'

इस घटना से पता लगता है कि शुरू से ही गोरे हाकिम आर्य समाज को संदेह की दृष्टि से देखते थे। तव गुरुकुल पर उनकी कोप दृष्टि पड़ना स्वाभाविक था। एक समय तो स्थिति बहुत भयंकर हो गयी थी। शंकाओं के घेरे में घिरे हुए गुरुकुल को गोरी सरकार ने किसी गहरे षड़यंत्र का केन्द्र मान लिया था और उस पर आक्रमण करने की तैयारी कर ही रही थी कि महात्मा मुंशीराम ने स्वयं शेर की गुफा में पहुँच कर उनसे वात करने का निश्चय किया। प्रो. इन्द्र ने लिखा है, "उस दिन की बातचीत

में जो बीजपात हुआ वह कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की तीर्थ यात्रा के रूप में फलीभूत हुआ। वायसराय के गुरुकुल आगमन को शायद कुछ लोग सरकारी अफसर द्वारा एक शिक्षण संस्था के निरीक्षण का रूप दें, परन्तु जिन लोगों ने उस घटना को आदि से अंत तक देखा था, उन्हें यह विश्वास हो गया कि वायसराय का गुरुकुल आगमन केवल सरकारी दौरे का हिस्सा नहीं था प्रत्युत उसमें कुछ प्रयोजन और भावुकता का अंश भी था।

भावुकता का एक कारण महात्मा मुंशीराम का भव्य व्यक्तित्व भी था जो अनायास ही उनके बड़े विरोधी को भी उनके प्रति स्नेह और आदर से भर देता था। पं. जवाहरलाल नेहरू के मूल्यांकन में उसकी गंध है। उस समय के संयुक्त प्रांत के गवर्नर लार्ड मेस्टन, मजदूर नेता रेम्जे मैकडोनल्ड, दीनबंधु सी.एफ.एंड्रयूज तथा प्रसिद्ध अमेरीकन पत्रकार श्री फैल्फ्स आदि कुछ व्यक्ति उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंच कर ही उनके हो रहे थे।

वायसराय के गुरुकुल में आगमन से जहाँ एक ओर कोहरे के बादल छंट गए दूसरी ओर उग्रवादियों ने इस यात्रा को संदेह की दृष्टि से देखा। आगे हम देखेंगे कि कैसे स्वामी श्रद्धानन्द भारत के स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े थे।

वह खुशामदी कैसे हो सकते थे। वह तो बस यही चाहते थे कि गुरुकुल एक स्वतंत्र शिक्षा संस्थान बना रहे। उसे न दायें जाना है, न बायें। उसे तो भारतवासियों के अंतर में हीन भावना का जो अंधकार पूंजीभूत हो उठा है उसे दूर करना है। बिना स्वयं शक्तिशाली हुए शत्रु से कैसे लोहा लिया जा सकता है। सच्चा जननायक हर कदम बहुत सोच समझ कर उठाता है, भावुकता के वशीभूत नहीं होता। इसी कारण सरकार ने आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा तो उसी दृढ़ता से उन्होंने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया। दूसरी बार सोचा तक नहीं। उनके भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व के पीछे दृढ़ विश्वास की एक ऐसी दीवार थी जिसे भेद पाना किसी के लिए संभव नही था।

उनके पुत्र इन्द्र जी ने लिखा है, "शुरू में स्वामी जी की राजनीति में तनिक भी श्रद्धा नहीं थी उसे वह मात्र प्रदर्शन मानते थे। गाँधी जी की तपस्यात्मक राजनीति के मैदान में आते ही स्वामी जी का हृदय उस ओर झुक गया। जब महात्मा गाँधी भारत के वायसराय से मिलने दिल्ली आए तो स्वामी जी ने उनसे भेंट की। उसी भेंट के बाद उन्होंने इन्द्र जी से कहा था कि यदि महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आरम्भ किया तो मैंने उन्हें आश्वासन दिया है कि मैं उनका साथ दूँगा।"

कांग्रेस से वैसे उनका सम्बन्ध सन् १८८८ई. में ही हो चुका था और यह सम्बन्ध

कैसे सन् १९१९ ई. में असहयोग आंदोलन में कूद पड़ने तक पहुँच गया। इसकी कहानी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और विकास की कहानी है। महात्मा गाँधी से उनके सम्बन्ध सन् १९१७ ई. में विधिवत संन्यास ग्रहण करने और स्वामी श्रद्धानन्द नाम धारण करने के पूर्व ही घनिष्ठ हो चुके थे। निमित्त बने थे दीनबंधु सी.एफ. एंड्रयू। गुरुकुल की चर्चा करते हुए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी को लिखा था, "जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत को मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे स्वप्नों में था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला।" उनके संबंधों की घनिष्ठता का प्रमाण है कि जब महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन चला रहे थे तब श्री गोपाल कृष्ण गोखले की अपील पर तथा श्री मुंशीराम जी की प्रेरणा से गुरुकुल के छात्रों ने हर की पौड़ी के करीब बन रहे दूधिया बांध के पत्थर की गिट्टियां तोड़कर पाँच हजार रुपये एकत्र करके गाँधी जी को भेजे थे। वह श्रमदान की पवित्र राशि जब दिल्ली जाकर गोखले को सौंपी गई तो उनकी आंखों से प्रसन्नता के आँसू फूट पड़े। उन्होंने मुंशीराम जी से कहा, "आज मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि जब देश में ऐसे आचार्य, अध्यापक, प्राध्यापक और तपस्वी छात्र विद्यमान है तो यह देश कभी पराधीन नहीं रह सकता।"

तब न तो मुंशीराम जी महात्मा बने थे और न गाँधी जी ही। बाद में दोनों ने एक दूसरे को महात्मा कह कर पुकारा और यह शब्द सदा के लिए उनसे जुड़ गया। २१ अक्टूबर, १९१४ई. के पत्र में गाँधी जी ने उन्हें प्रिय महात्मा जी कहकर संबोधित करते हुए लिखा," आप मुझे महात्मा जी लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और एण्ड्रयूज साहब आपकी चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं उन्होंने मुझे आपकी संस्था गुरुकुल देखने के लिए अधीर बना दिया है . . .

छह माह बाद गाँधी जी गुरुकुल आए। तब ८ अप्रैल, १९१५ ई. को उन्हें जो मानपत्र दिया गया उसमें उन्हें महात्मा नाम से संबोधित किया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द आर्य समाज और स्वाधीनता संग्राम में इतने सहज भाव से जुड़ गए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रन्थ में बहुत पहले ही लिख दिया था, कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। इन शब्दों के पीछे जो भावना है उसी की नींव पर भारत का स्वाधीनता संग्राम पुष्पित पल्लवित होकर परवान चढ़ा। उसके असंख्य बलिदानी, हिंसक और अहिंसक दोनों प्रकार के सैनिकों में, आर्य समाज की भट्टी से तपकर निकले सैनिकों की संख्या किसी भी दृष्टि से नगण्य नहीं है।

जैसा हमने कहा कि स्वामी जी का सम्बन्ध कांग्रेस से बहुत पहले ही हो चुका था, परन्तु क्रियात्मक राजनीति में वह गाँधी जी के सत्याग्रह करने पर ही कूदे।

इन्द्र जी ने लिखा है-"सत्याग्रह की लड़ाई का पहला कदम यह था कि देश भर में एक निश्चित दिवस प्रार्थना दिवस के रूप में मनाया जाए, जिसमें आम हड़ताल हो। सब लोग दिन भर का उपवास करें और ईश्वर से देश के कल्याण की प्रार्थना करें।" यह काम करने में दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी सबसे अव्वल रही। अभी महात्मा गाँधी ने हड़ताल का दिन निश्चित नहीं किया था कि दिल्ली सत्याग्रह कमेटी ने यह घोषणा कर दी कि ३० मार्च को शहर में पूरी हड़ताल होगी। और उपवास रखा जाएगा।

दिल्ली में उस दिन सचमुच पूर्ण हड़ताल रही लेकिन रेलवे स्टेशन के एक ठेकेदार ने दुकान बन्द करने से इंकार कर दिया। तब तक वहाँ एक बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो चुकी थी। उन्होंने दुकान बन्द करने का आग्रह किया। इस बात को लेकर भीड़ और पुलिस में मुठभेड़ हो गई। उसके बाद पुलिस ने दो स्वयं सेवकों को गिरफ्तार कर लिया। भीड़ में उत्तेजना फैल गई। गोली चलने और लोगों के मरने तथा घायल होने के समाचार आने लगे। पीपल पार्क में चार बजे सभा आरम्भ होने वाली थी। लेकिन इसी कारण वह ढाई बजे शुरू कर देनी पड़ी।

स्वामी जी बराबर सबको शांत रहने को कहते रहे। २०-२५ हजार की भीड़ बड़े संयम भाव से सभा करने के बाद लौट चली। वे चांदनी चौक में घंटाघर के पास पहुँचे ही थे कि अचानक गोली चल पड़ी। लोग विक्षुब्ध हो उठे। उसके बाद वहाँ जो कुछ हुआ उसका वर्णन प्रो. इन्द्र के शब्दों में, जो स्वयं वहाँ मौजूद थे, करना उचित होगा, लोग नारे लगाने में व्यस्त थे और तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आता देख कर घबरा गए और तीन-चार कदम पीछे हट कर अपनी बंदूकों को ऐसे ढंग से संभालने लगे जैसे गोली छोड़ने के समय संभालते है। इतने में एक बूदंक चल गई। सरकार का बयान था कि गोली भूल से चल गई पर लोग विक्षुब्ध हो गए। स्वामी जी ने लोगों को वहीं ठहरने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़ कर सिपाहियों के ठीक सामने जाकर खड़े हो गए। पूछा-"तुमने गोली क्यों चलाई?" इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे कर कई सिपाहियों ने अपनी बंदूकों की संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा, "हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।"

स्वामी जी एक कदम और आगे बढ़े गए। अब संगीन की नोंक स्वामी जी की छाती को छू रही थी। स्वामी जी ने बड़े ऊँचे स्वर में कहा, 'मार दो।'

यह दृश्य शायद मिनट भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज अफसर घोड़ा दौड़ाते हुए वहाँ आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बंदूकें नीची कर ली। स्वामी जी ने अफसर से पूछा, "गोली क्यों चलाई गई?"

PDF created by Rajesh Arya, Gujarat

अफसर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "गोली भूल से चल गई थी।"

यह कह कर उसने सिपाहियों को पीछे हटकर भीड़ के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गए और जनता ने अपना कोलाहल पूर्ण प्रयाण जारी रखा. . .

यह जुलूस नए बाजार में श्रद्धानन्द भवन की इमारत तक गया। स्वामी जी ऊपर चले गए और लोग अपने अपने घरों को वापस लौट गए। इस घटना का देशव्यापी प्रभाव पड़ा। नेताओं ने गद्‌गद् स्वर में स्वामी जी की प्रशंसा की। मौलाना मुहम्मद अली ने लिखा–"गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल देने वाले उस बहादुर देश प्रेमी का चित्र अपनी नजर के सामने रखना मुझे अच्छा लगता है।"

महात्मा पंडित मदन मोहन मालवीय ने कहा, "इनकी देश भक्ति कैसी थी, इसका स्मरण कराने की जरूरत नहीं। आपको पता ही होगा कि दिल्ली में छाती खोलकर वे बन्दूकों के सामने खड़े रहे थे।"

श्री गणेशंकर विद्यार्थी ने कहा, "तपयुक्त उनकी वीरता और उनके साहस के सामने उस समय देश भर स्तंभित रह गया जब उन्होंने दिल्ली के निवासियों की अरक्षित देहों पर लक्ष्य करने वाली सरकारी तोपों के सामने अपनी छाती अड़ा दी थी।

सरदास बल्लभ भाई पटेल ने कहा, "सरकारी सिपाही फायर करने की तैयारी में हैं। स्वामी जी छाती खोलकर सामने जाते हैं और कहते हैं लो, चलाओ गोलियां। उनकी इस वीरता पर कौन मुग्ध नहीं हो जाता।"

३० मार्च की इस घटना ने केवल दिल्ली निवासियों के मस्तिष्क में बल्कि समूचे भारत में मानसिक क्रान्ति पैदा कर दी। इन्द्र जी के शब्दों में, उस दिन सायंकाल के समय जो भावना जनता में उत्पन्न हुई उसे देखते हुए यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उस दिन के बाद १२ घंटों में जो परिवर्तन आया, सामान्य रूप से वह बारह वर्षों में भी न आता। उस दिन चली गोलियों ने जिन लोगों को घायल अथवा शहीद किया उनमें हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। दोनों का लहू मिल गया। इस रक्त मिश्रण ने चमत्कार कर दिखाया। ३१ मार्च की प्रातः वेला में मानों हिन्दू और मुसलमान का भेद मिट चुका था।

हम शब्दों में 'ह' से हिन्दु और 'म' से मुसलमान कहने का रिवाज उसी समय से चला है।

३१ मार्च की सवेरे ३० मार्च को गोली से आहत हुए एक मुसलमान का जनाजा

निकला। जनता को अपने रोष और जोश को प्रकाशित करने का इससे अच्छा अवसर क्या हो सकता था। जनाजा जब घंटाघर के पास पहुँचा तब भीड़ की संख्या २ लाख के लगभग हो चुकी थी उनमें हिन्दू अधिक थे या मुसलमान, यह बताना बहुत कठिन है। जनाजे के साथ स्वामी श्रद्धानन्द भी थे और हकीम अजमल खाँ भी। दिल्ली की इन दो विभूतियों का प्रथम साक्षात्कार इसी कारुणिक पवित्र अवसर पर हुआ।

अगले दिन सिविल हास्पिटल से पाँच शहीदों के शव मिले। उनमें दो मुसलमान थे और तीन हिन्दू। कुछ दूर तक पाँचों अर्थियाँ साथ साथ चलीं। चांदनी चौक से भीड़ दो हिस्सों में बंट गयी। मुसलमानों का जनाजा ईदगाह की ओर चला और हिन्दुओं की अर्थी यमुना तट पर निगम बोध घाट की ओर। दोनों स्थानों पर अथाह भीड़ थी। दोनों स्थानों पर देश भक्ति और एकता पर व्याख्यान हो रहे थे। यह जोश चरम बिन्दु पर उस दिन पहुँचा जब चार अप्रैल को नमाज के बाद जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था। उस समय अब्दुल्ला चूड़ी वाले ने आवाज दी, स्वामी श्रद्धानन्द जी की तकरीर भी होनी चाहिए।

उस समय नारा-ए-तकबीर से मस्जिद गूंज उठी। दो तीन जोशीले नौजवान उठे और नये बाजार से स्वामी जी को बड़े आदर के साथ ले आए। अल्लाह–हो–अकबर के नारों के साथ स्वामी जी मस्जिद की वेदी पर आरुढ़ हुए। संभवतः इस्लाम के इतिहास में यह पहला अवसर था कि एक गैर मुस्लिम व्यक्ति ने जामा मस्जिद की वेदी पर से वाज़ किया।

स्वामी जी ने ऋग्वेद के मंत्र से अपना व्याख्यान आरम्भ किया। वह मंत्र था–

ओइम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे॥

एक उर्दू शायर की यह रुबाई भी उन्होंने पढ़ी–

हिन्दू सनम में जलवा पाया तेरा।
आतिश पे फिंगा ने रस गाया तेरा।
देहरी ने किया देहर से ताबीर मुझे।
इंकार किसी से बन न पाया तेरा॥

भाषण के बाद जब उन्होंने 'ओउम शान्ति आमीन' कहा तो सारी सभा ने इस मंत्र को उच्चरित किया। यही नहीं ६ अप्रैल को फतेहपुरी मस्जिद में भी उनका भाषण हुआ।

जलियांवाला बाग के बर्बर हत्या काण्ड के बाद कांग्रेस का जो अधिवेशन अमृतसर में हुआ उसने देश की राजनीति में युग परिवर्तन कर दिया। यह तिलक युग का अन्त और गाँधी का आरम्भ था। प्रो. इन्द्र इस अधिवेशन में उपस्थिति थे। उन्होंने लिखा है, "कांग्रेस का यह अधिवेशन वड़ा महत्त्वपूर्ण था। यह अधिवेश उस समय किया गया था जब पंजाब के वक्षस्थल पर मार्शल ला की संगीनों द्वारा किये गए घाव हरे थे। और जर्नल डायर के हुक्म से जलियांवाला बाग में चलाई गई बंदूकों की प्रतिध्वनि अभी समाप्त नहीं हुई थी। उस समय देश के तीव्र विक्षोभ और क्रोध को प्रकट करने के लिए राष्ट्रीय महासभा का बृहत अधिवेशन बुलाया गया था। उसके स्वागताध्यक्ष और सभापति क्रमशः युवाकाल के पुराने सहपाठी स्वामी श्रद्धानन्द जी और पंडित मोतीलाल नेहरू नियुक्त हुए थे। और संभवतः अपने विद्यार्थी जीवन के बाद वे पहली बार इसी मंच पर मिले थे। बाद में संबंध एक परिवार जैसे ही हो गए थे।

"जब यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हो तब सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह खड़ा हुआ कि उसके प्रबंध की जिम्मेदारी कौन ले। समय की कमी और कार्यों की कठिनाइयों को देख कर कांग्रेस के अन्य कार्यकर्ता घबरा रहे थे। अंत में स्वामी के पास दिल्ली में एक संदेश भेजकर पूछा गया, क्या आप इस भारी उत्तरदायित्व को उठा सकेंगे। स्वामी जी ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार तत्काल उत्तर दिया कि यदि यह उत्तरदायित्व मुझ पर डाला जाएगा तो मैं अवश्य उठा लूंगा।

मार्शल ला की सब घटनाओं की जिस कमेटी ने छानबीन की थी पं. मोतीलाल नेहरू उसके अध्यक्ष थे। कानूनी और नैतिक योग्यता की दृष्टि से उन से योग्य अध्यक्ष, मिलना कठिन था। इस कारण वह बृहत अधिवेशन के सभापति निर्वाचित किये गए। अमृतसर में नेताओं के पहुँचने में मुख्य प्रस्ताव के संबंध में मतभेदों की चर्चा ने शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लिया। तीन केन्द्रों में तेजी से मोर्चाबंदी शुरू हो गई। बीच-बचाव करने के लिए जो व्यक्ति कार्य कर रहे थे, उनमें तीन प्रमुख थे श्रीमती ऐनी बेसेंट, पं. मदन मोहन मालवीय और स्वागताध्यक्ष की ओर से पिताजी। इस अधिवेशन में पं. जवाहरलाल एक किशोर के रूप में उपस्थित थे। गुरुकुल के छात्र भी काफी संख्या में आए थे।

मतभेदों की बात अभी रहने दें। स्वामी श्रद्धानन्द यहां भी नवजागरण का संदेश लेकर आए। पहली बार, उन्होंने ही कांग्रेस के मंच से ठेठ मुहावरेदार हिन्दी में भाषण दिया। न केवल भाषण ही दिया बल्कि कांग्रेस की कार्यवाहियों में हिन्दी का प्रयोग करने की प्रेरणा भी दी। स्वामी जी ने पहली बार कांग्रेस का ध्यान अस्पृश्यता निवारण तथा दलितोद्धार की ओर खींचा। एक ओर गाँधी जी की अहिंसा का पूर्ण समर्थन

करते हुए उन्होंने कहा, ओडायर और डायर जानसर और ओबरायन यह सब हमारे ही तो भाई हैं। एक ही पिता की तो संतान हैं। उनके अंदर क्रोध और असाधुता के जो भाव है, वे ही हमारे शत्रु हैं। तो दूसरी ओर उन्होंने चेतावनी भी दी, "यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बन कर अपनी संतान के समक्ष सदाचार की बुनियाद रखो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक और शिक्षण पद्धति राष्ट्रीय हो तो तभी जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नौजवान मिलेंगे। नहीं तो आपकी संतान विदेशी विचारों तथा विदेशी सत्ता की गुलाम बनी रहेगी।

उन्होंने बार-बार कांग्रेस मंच से अछूतोद्धवार के प्रश्न को उठाया। कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में भी उन्होंने यह प्रस्ताव रखना चाहा लेकिन वहाँ केवल अहिंसात्मक असहयोग के प्रस्ताव पर ही विचार हो सका। चूंकि उस समय अंग्रेजों के विरुद्ध व्यूह रचना पर जोर दिया जा रहा था और यह आवश्यक भी था। इसी वर्ष १ अगस्त को, "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" के जन्मदाता लोकमान्य तिलक की मृत्यु हुई और अब गाँधी जी कांग्रेस के एकछत्र नेता बन गए। इसी वर्ष उन्होंने असहयोग आंदोलन आरम्भ किया।

उनके कार्य और प्रभाव की चर्चा करते हुए श्री नटराजन ने अपने पत्र 'इंडियन सोशल रिफोर्मर' में लिखा था, भारत की पवित्रता के स्रोत एवं काषाय वस्त्रों के वेश में यह विशाल तेजस्वी तथा प्रभावशाली मूर्ति जिसके चेहरे पर शक्ति और तेज चमक रहा था। साधारण से साधारण दर्शक को भी स्वयं सेवा करते हुए और महान संगठन के छोटे छोटे कार्य का भी स्वयं निर्धारण करते हुए यहा-वहां सभी जगह व्याप्त दीख पड़ती थी।

१० सितम्बर, १९२२ई. को हकीम अजमल खाँ तथा पं. प्यारे लाल शर्मा के साथ स्वामी जी धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए गुरु का बाग सत्याग्रह में भाग लेने के लिए अमृतसर पहुंचे। मालवीय जी वहाँ पहले से ही उपस्थित थे। यहीं पर स्वामी जी को बंदी बनाकर पहले अमृतसर जेल में, और उसके बाद मियाँवाली जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। २६ दिसम्बर को वह मुक्त हुए। "बंदी घर के विचित्र अनुभव" नाम से उन्होंने इस जेल यात्रा के संस्मरण लिखे हैं।

गाँधी जी से उनके सम्बन्ध बहुत गहरे थे लेकिन जिन बातों पर उनका मत नहीं मिलता था उन बातों को प्रकट करने में भी वे संकोच नहीं करते थे, विशेषकर अस्पृश्यता निवारण के कार्य को लेकर वह बहुत अप्रसन्न रहे। इस संबंध में उन्होंने गाँधी को कई पत्र भी लिखे। न केवल गाँधी जी को बल्कि श्री पटेल आदि दूसरे नेताओं को भी इस संबंध में बराबर लिखते रहे। वह चाहते थे दलितों को अन्य जाति के नागरिकों के साथ एक दरी पर बैठने की आज्ञा मिलनी चाहिए। सभी कुओं से उन्हें जल भरने

का अधिकार होना चाहिए। उनके बच्चों को राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजों में प्रवेश मिले और उनमें अन्य जातियों के विद्यार्थियों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए।

लेकिन अभी हम थोड़ा पीछे लौटे। चौरा चोरी कांड के बाद जब गाँधी जी ने असहयोग आदोलन को स्थगित कर दिया तो उससे उनका मन टूट गया। लेकिन मतभेद का मात्र केवल यही एक कारण नहीं था। उन्हीं दिनों गाँधी जी ने आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के संबंध में ऐसी बातें कहीं जिनके कारण आर्य समाजी उत्तेजित हो उठे। स्वामी जी के मन को भी ठेस लगी। उस समय गाँधी जी ने उन्हें अपने सत्याग्रह आश्रम में बुलाया था। बातें भी हुई थी। इस सबकी चर्चा करते हुए गाँधी जी ने लिखा था, "उस मतभेद से मुझ पर उनका बाल सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किए विना उन्हें जैसा मालूम था उन्होंने सच्ची बात कह दी। वह अति साहसी थे। समय बीतने के साथ-साथ हम लोगों के स्वभाव का जो अंतर था उसे मै देखता गया।

किन्तु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई।"

श्रद्धानन्द जी कांग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से असहमत थे। परन्तु किसी साम्प्रदायिक संस्था की ओर से चुनाव लड़कर कांग्रेस का विरोध करने की नीति का समर्थन भी उन्होंने नहीं किया।

वास्तव में असहयोग आंदोलन स्थगित होने की घटना के साथ-साथ एक और ऐसी बात हुई जिसने सारे वातावरण को बदल दिया। मुसलमानों में खिलाफत आंदोलन के दौरान जो ज्वार उमड़ा था वह तुर्की में कमालपाशा के द्वारा खिलाफत के खात्मे के साथ ही खत्म हो गया और हिन्दू मुसलमान जो कभी 'हम' शब्द की तरह एक हो गए थे वे अब एक-दूसरे के शत्रु बन गए, देश में साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े। इसमें संदेह नहीं कि इसके पीछे ब्रिटिश साम्राज्य की कूटनीति काम कर रही थी।

दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध पुस्तकें लिखने लगे। एक ओर मुसलमानों ने तबलीग और तनज़ीम का नारा लगाया तो हिन्दुओं ने विशेषकर आर्य समाजियों ने उसका जवाब शुद्धि और संगठन के कार्यक्रम से दिया। साधारणतया किसी भी मत के व्यक्ति को इस्लाम और ईसाई मत में दीक्षित किया जा सकता था लेकिन हिन्दुओं में यह प्रथा नहीं थी। आर्य समाज ने इसका आरम्भ किया। स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दु-मुस्लिम एकता के प्रवल समर्थक होते हुए भी शुद्धि में विश्वास रखते थे। और उन्होंने अपने इस विश्वास को कार्य रूप में परिणत भी किया।

गाँधी जी ने आर्य समाज की आलोचना की तो ख्वाजा हसन निजामी की किताब

"दाइ ए इस्लाम, जिसका उत्तर स्वामी जी ने" 'खतरे का घंटा' पुस्तक लिखकर दिया है की भी २ मई, १९२५ के 'यंग इंडिया' में कड़ी आलोचना की।

वातावरण में ज़हर काफी दिनों से फैल रहा था। इसीलिए १९२४ई. में २४ सितम्बर को हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए गाँधी जी ने २१ दिन का उपवास दिल्ली में किया। उसी अवसर पर हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए सम्मेलन भी आयोजित किया गया। जिसमें मौलाना अली, हकीम अजमल खाँ तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भाग लिया तथा गाँधी को विश्वास दिलाया कि हम इन उपद्रवों को रोकने का प्रयत्न करेंगे। तभी गाँधी जी ने अपना यह उपवास तोड़ा।

लेकिन धर्म परिवर्तन को लेकर जो आन्दोलन इसके बाद देश में पनपा उसके कारण दोनों सम्प्रदायों के मन का मैल दूर नहीं हुआ। और वह हिन्दू मुसलमान दंगों के लिए एक दूसरे पर आक्षेप करने लगे। कुछ नेताओं ने जिनमें मौलाना मोहम्मद अली भी थे, मुसलमानों से तबलीग आन्दोलन को समाप्त करने की प्रार्थना की लेकिन अलगाववादी शक्तियां तो किसी तीसरी शक्ति के इशारे पर नाच रही थी।

स्वामी श्रद्धानन्द के विचलित होने का प्रमुख कारण यह था कि मौलाना मोहम्मद अली ने काकी बाड़ा कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में यह सुझाव दिया था कि ६ करोड़ अछूतों को हिन्दू और मुसलमानों के बीच आधा-आधा बाँट लिया जाए। इस पर हिन्दू नेता विचलित हो उठे। स्वामी जी ने देखा कि न तो कांग्रेस और न ही हिन्दू महासभा के नेता गंभीर हैं तब उन्होंने इस कार्य को अपने ही स्तर पर करने का निश्चय किया। इसके बाद जो घटनाएं घटीं वे इस बात का प्रमाण हैं। एक समय आया जब अस्पृश्यता मिटाने के लिए गाँधी जी ने प्राणों की बाजी लगा दी। परन्तु स्वामी जी ने अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्रस्ताव पेश किया था तब कांग्रेस के नेताओं ने उसका उपहास उड़ाया था। दुखी होकर उन्होंने अलग से दलितोद्धार सभा की स्थापना की और अपना काम शुरू कर दिया। गाँधी जी के शब्दों में, "यह इसमें आधा-साधा सुधार नहीं चाहते थे। अगर उनकी चलती तो बात की बात में हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करते। हरेक मन्दिर को हरेक कुएँ को बराबरी के साथ अछूतों के लिए खोल देते और उसका फल भुगत लेते।"

जैसा हम ऊपर कह आये है फल भुगत लेने की तैयारी के कारण ही उनका मुसलमान मित्रों से मतभेद शुरू हो गया। शुद्धि आंदोलन के समय तो विवाद और वितंडा का कोई अंत ही नहीं रहा। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए केवल किसी एक व्यक्ति या केवल किसी एक घटना को दोषी ठहराना इतिहास के साथ अन्याय होगा। ऊपर हमने देखा है कि एक के बाद एक ऐसी घटनाएं घटी जिनसे वातावरण निरंतर दूषित होता चला गया। उसका विश्लेषण करना यहाँ संभव नहीं है।

एक समय तो लाला लाजपतराय और पं. मदन मोहन मालवीय भी कांग्रेस की नीति से इतने विक्षुब्ध हो उठे थे कि उन्होंने १९२६ ई. में कांसिलों के नए चुनाव के अवसर पर नेशनलिस्ट पार्टी संगठित की और कांग्रेस के उम्मीदवारों के विरुद्ध अपने उम्मीदवार खड़े किये । उस समय हिन्दू हितों के नाम पर मालवीय जी और लाला जी ने स्वामी जी से सहयोग मांगा। इन्द्र जी ने लिखा है, "उस समय विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई। पिताजी कांग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से असहमत थे। वह इस परिणाम पर पहुंच चुके थे कि कांग्रेस उस समय हिन्दू हितों को दबाकर मुसलमानों को संतुष्ट करना चाहती है। वह मानते थे कि ऐसा करने से साम्प्रदायिक समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझेगी। क्योंकि अन्याय के आधार पर किया गया समझौता कभी स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर, साम्प्रदायिक संस्था की ओर से राजनीतिक चुनाव लड़ने और कांग्रेस का विरोध करने से भी वह सहमत नहीं थे। कई दिनों तक पिताजी के हृदय में समुद्र मंथन जारी रहा। जिसके एक एक उतार चढ़ाव को देखने का मुझे अवसर मिला. . . मैं चुनाव में कांग्रेस का पूरा १६ आने समर्थक था। पिताजी को मालवीय और लाला जी नेशनल पार्टी के समर्थन में खड़ा करना चाहते थे। स्वभाव से मैं उनके प्रयत्नों को काटता रहता था। अन्त में मामला यहाँ तक गंभीर समझा गया कि लाला जी को तार देकर लाहौर से बुलाया गया और मेरी जिद को तोड़ने के लिए लालाजी की उपस्थिति में पिताजी के पास मुझे बुलाकर पेश किया गया। लाला जी ने मुझे बहुत कुछ समझाया। मैं उन्हें पिताजी के समान मानता था। मैंने आदरपूर्वक उनकी बात सुनी और विनम्रतापूर्वक अपना निवेदन किया।

मेरे सामने बहुत बड़ा धर्म संकट था। लालाजी और स्वामीजी दोनों को मैं पूजा के योग्य मानता था। उनमें से एक की भी बात को टालने की शक्ति मुझ में नहीं थी।. . . मैंने लालाजी से निवेदन किया। मेरे लिए आपकी आज्ञा उतनी ही बड़ी है जितनी बड़ी स्वामी जी की आज्ञा। परन्तु ऐसे मन्तव्यों सम्बन्धी विषयों में मुझे स्वामी जी ने सदा स्वतंत्र रखा है। मुझे आशा है कि आप भी मुझे इतना अधिकार देंगे कि मैं अपनी आत्मा के शब्दों को अनसुना न करूं। मेरा मन्तव्य है कि राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।

मेरी बात सुनकर लाला जी के चेहरे पर क्रोध का चिह्न दिखाई नहीं दिया। प्रत्युत उन्होंने हल्के से अभिमान मिश्रित संतोष के साथ स्वामीजी की ओर देखा। स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा, "इन्द्र ठीक कहता है मैंने इसे विचार और कार्य की पूरी स्वतंत्रता दे रखी है।"

लाला जी ने भरे हुए गले से कहा, "इन्द्र जो अधिकार तुम्हें स्वामीजी ने दे रखा है उसे मैं कैसे छीन सकता हूँ। तुम अपने विचार के अनुसार कार्य करो। . . . यह

चुनाव मेरे लिए बहुत दुखदायी था लेकिन इसमें मुझे उनके विरुद्ध कार्य करना पड़ा था जिन्हें मैं पूज्य मानता था। परन्तु साथ ही संतोषप्रद भी हुआ। क्योंकि इसमें मुझे पिताजी के हृदय की विशालता का पूरी तरह अनुभव करने का अवसर मिला।"

इस घटना के बाद नवम्बर १९२६ ई. में अथक परिश्रम और लम्बी यात्राएं करने के कारण वह बहुत अशक्त हो गए थे। इसके परिणामस्वरूप उन्हें निमोनिया हो गया। डा. अंसारी के अनथक परिश्रम और परिचर्चा के कारण वह इस रोग से मुक्त हो चले थे। लेकिन अभी दुर्बलता बहुत थी। इन्द्र जी ने लिखा है, "वह बार-बार कहते थे कि अब यह शरीर सेवा करने के योग्य नहीं रहा। अब तो एक ही इच्छा है कि अगले जन्म में ऐसा शरीर प्राप्त करूं कि जो धर्म की सेवा के काम आ सके। . . . डा. अंसारी ने कहा कि रोग जा चुका है। कुछ ही दिनों में आप सर्वथा स्वस्थ हो जाएंगे। पिताजी ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "होगा तो वही जो भगवान चाहेगा, मैं तो केवल अपनी इच्छा प्रकट कर रहा हूँ।"

इस तरह थोड़ी देर बातचीत करने के बाद सब लोग चले गये। २३ दिसम्बर १९२६ का दिन था। शाम चार बजे एक अब्दुल रशीद नाम के सज्जन उनसे बातचीत करने के लिए आए। बैठने के बाद उन्होंने पीने के लिए पानी माँगा। स्वामीजी तब मसनद के सहारे बैठे हुए थे कि सहसा आगन्तुक ने पिस्तौल निकाली और स्वामी जी पर गोली दाग दी। वह गोली उनके वक्ष स्थल को चीर गई और उसी क्षण उनके प्राण पखेरू उड़ गए। पिस्तौल की आवाज सुनते ही उनकी देखरेख करने वाले पं. धर्मपाल भागे हुए आये और कातिल को पकड़ लिया। तुरन्त बाद प्रो. इन्द्र जी, डा. सुखदेव, डा. अंसारी सभी लोग आ गए, पुलिस भी आ गयी। इन्द्र जी ने लिखा है "वहाँ जाकर अन्दर घुसते हीं मेरी पहली नजर पिताजी की चारपाई पर पड़ी। पिताजी की आँखें बंद थी मानों सुख पूर्वक सोये हों। सामने भगवे कुर्ते पर रक्त दिखाई दे रहा था। जो असली घटना की सूचना दे रहा था। अन्यथा, पिताजी को देखकर एक दम यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि वह सजीव नहीं हैं।

बलिदान के तीसरे दिन उनकी अन्त्येष्टि यमुना के निगम बोध घाट पर हुई। उस अवसर पर असंख्य जनता उनको श्रद्धांजलि देने के लिए उपस्थित थी।

गाँधी जी ने इस विसर्जन को "महिमामय मृत्यु" कहकर सम्मानित किया। एक समय के उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी लाला लाजपत राय कह उठे, "आज श्रद्धानन्द ने मुझे पराजित कर दिया।" गणेश शंकर विद्यार्थी ने कामना की कि "इस महान बलिदान से इस देश में धर्मान्धता का नाश हो और धर्म और त्याग के सच्चे भाव का उदय हो।"

अपनी आत्मकथा में इस घटना को उद्धृत करते हुए पं. जवाहरलाल नेहरू ने

लिखा, "१९२६ ई. के अंत में यह वर्ष एक भारी दुखद दुर्घटना से सर्वत्र अंधकारमय हो गया। इस दुर्घटना से सम्पूर्ण भारतवर्ष रोष व घृणा से कांप उठा। इस घटना से पता लगता है कि साम्प्रदायिक जीवन हम लोगों को कितना नीचे गिरा सकता है। रोग शैय्या पर पड़े स्वामी श्रद्धानन्द जी की धर्मान्ध युवक द्वारा हत्या कर दी गई। जिस वीर पुरुष ने गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती अड़ा दी थी और जो उनकी गोलियों का मुकाबला करने आगे बढ़कर खड़ा हो गया था। उस पुरुष की ऐसी मृत्यु। लगभग ८ वर्ष पूर्व आर्य समाज के प्रमुख नेता ने दिल्ली की शानदार जामा मस्जिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्मानित विशाल जन समुदाय को हिन्दु मुस्लिम एकता तथा भारत वर्ष की स्वतंत्रता का संदेश दिया था। आज उनके अपने देश भाई द्वारा हत्या कर दी गई। वह धर्मान्ध व्यक्ति निसंदेह यह समझता था कि वह एक ऐसा कार्य कर रहा है जो उसे स्वर्ग में पहुँचा देगा।"

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अब्दुल रशीद के मन में स्वर्ग जाने की भावना थी। क्या वह स्वयं अपनी इच्छा से घृणित कार्य करने आया था। घटनाएं इस बात का समर्थन नहीं करती। जब वह आया तो बहुत घबराया हुआ था। गोली मारने के बाद जब स्वामी जी के सेवक ने उसको पकड़ा तो उसने अपने को छुड़ाने की कोई विशेष कोशिश नहीं की। जब डा. अंसारी वहाँ आये तो उसने अपना सिर झुका दिया। कहते हैं कि फांसी के फंदे पर जाते समय वह बहुत दुखी था।

क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उसने यह काम किसी के इशारे पर किया हो। ब्रिटिश गवर्नमेंट तो ऐसे अवसर कभी चूकती नहीं थी।

इस प्रकार इस बलिदान के, बहुत से लोगों ने बहुत से अर्थ लगाए हैं पर प्रश्न यहाँ पर उठता है कि क्या स्वामी श्रद्धानन्द जी मुस्लिम विरोधी थे। क्या यह मात्र एक संयोग ही है कि जिस मजहब के पैरोकार ने उनके प्राण लिए उसी मजहब के एक दूसरे पैरोकार ने उन्हें मृत्यु के मुंह से निकाला था और गोली लगने पर सबसे पहले उसी को प्राण रक्षा के लिए बुलाया गया था। और क्या यह भी संयोग ही है कि जब उनका बलिदान हुआ तब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन गोहावटी में हो रहा था। उसकी सफलता की कामना करते हुए उन्होंने अपनी रोग-शैय्या से जो संदेश भेजा था, वह इस प्रकार था "भारत की स्वतंत्रता हिन्दू मुस्लिम एकता, भाई चारे पर निर्भर करती है।" उनकी शहादत का समाचार पा कर स्वयं महात्मा गाँधी ने यह शोक प्रस्ताव रखा था।

"अखिल भारतीय कांग्रेस का यह अधिवेशन स्वामी श्रद्धानन्द जी की कायरता और कष्टपूर्ण हत्या पर शोक प्रकट करता है। भारत माता के देश भक्त और वीर सपूत की दुखद मृत्यु से ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना संभव नहीं है।"

"उनका जीवन और जीवन की विशिष्टताएं अपने देश और धर्म की सेवा पर अर्पित रही। उन्होंने निर्भीकता और दृढ़ता के साथ सदैव असहायों, पतितों और दीन दुखियों को सहारा दिया।"

वह प्रतिवर्ष ईद के अवसर पर जो संदेश देते थे वह इस संबंध में उनकी सोच और चिन्तन के प्रतीक हैं। सन् १९२५ में उन्होंने अपने संदेश में हिन्दुओं से कहा था, "परमात्मा तो सारे संसार का पिता है, यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है तो प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए और मनुष्य मात्र को भाई समझना चाहिए। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिन तक अमल से दोगे। आज मुसलमान स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, नये कपड़े पहनकर अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उनके अंदर घर कर गई है। यदि ऐसा होगा तो वह अपने त्यौहारों पर हिन्दुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे।"

हिन्दु-मुस्लिम एकता के पुराने दिनों की याद करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "परस्पर मनोमालिन्य की इतनी दुर्घटनाएं घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आँखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर जिन्दा हूँ कि आपस के संदेह की सब घटनाएं छिन्न-भिन्न हो जाएंगी। धर्म और सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे स्वर्णिम दृश्य देखने में आयेगें।"

हिन्दु संगठन का मतलब इनके लिए मुस्लिम विरोध नहीं था, बल्कि हिन्दुओं के अपने अन्दर के कलुष को धोना था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "हिन्दुओं की तुलनात्मक दृष्टि से अवनति का मुख्य कारण बाल विवाह और बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह न होना है। हिन्दु मुसलमानों के बीच दंगों और द्वेष का कारण हिन्दु बाल विधवाओं की समस्या है–इस संघर्ष से बचने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि हम अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा और देखभाल का प्रबंध स्वयं करें।

और वह भी कि यदि हिन्दु जाति को नाश से बचाना है तो वर्तमान जाति भेद की प्रथा जिसने हिन्दुओं को हजारों जाति-उपजातियों में बांट रखा है, अंत कर देना चाहिए।"

स्वामीजी से कुछ बातों को लेकर मतभेद हो सकता है पर उनका सबसे बड़ा शत्रु भी उन पर यह दोष नहीं लगा सकता कि वे छद्म ओढ़ते थे। आर्य समाज की वेदी पर से अपने पहले भाषण में उन्होंने कहा था, "हम सबके कर्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिए।" जीवन के अंतिम क्षण तक अपने इसी आदेश का वह स्वयं पालन करते रहे। वे तो बच्चे की तरह सरल प्राण थे। घृणा और द्वेष उन्हें छू तक न गये

थे। संघर्ष केवल कुछ मूल्यों को लेकर था। उनका मूल्यांकन उनको उनके काल से जोड़ कर ही किया जा सकता है। श्रद्धा, गहरी धार्मिक भावना और त्यागमय जीवन से ओत-प्रोत, स्पष्टवादी और अति साहसी, जिस काम को हाथ में लेते उसी के हो रहते। अपने दोष निस्संकोच भाव से खोलकर रख देते। दूसरे के दोषों से परेशान हो उठते। अत्याचार का विरोध करना उनका सहज भाव था। बहुत जल्दी वे अगली पंक्ति में इसलिए आ जाते थे कि उनका अंतर्मन बाहरी कार्यों से तनिक भी भिन्न नहीं था। अपने विश्वास को जीना जानते थे और दूसरे के विश्वास की रक्षा करते थे।

उनके यही गुण उनकी महानता की कसौटी थे। कभी-कभी उनकी दृढ़ता उनकी उदारता को ढक भी लेती थी और कूटनीति से अनभिज्ञ उनका सहज सरल विश्वासी मन गलतफहमी पैदा करने का कारण हो जाता था। जब उन्होंने आर्य समाज में आने का निश्चय कर लिया तब उन्होंने अपने स्नेही पिता तक की चिन्ता नहीं की थी। आर्य समाज के सिद्धान्तों में उन्हें इतना विश्वास था कि युवा अवस्था में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और समय आने पर अपनी संतान का विवाह, जाति-पाति के बंधनों को तोड़ कर किया। इन्हीं की प्रेरणा से बाद में श्री संतराम बी.ए. ने जात-पात तोड़क मंडल की स्थापना की। अपने ही गुरुकुल में उन्हें बार-बार अपने सहयोगियों से संघर्ष करना पड़ा। हर तूफान को उन्होंने हँसते-हँसते अपनी वज्र जैसी छाती पर सहा लेकिन टस से मस नहीं हुए।

अपनी अस्मिता की पहचान में भटक रहे इस युग में उनका मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम मानसिक दासता से मुक्ति पाकर जिस मार्ग को सही समझते हैं उसी को सबके प्रति द्वेष रहित होकर और पूर्वग्रह से मुक्त कर सहज भाव से ग्रहण करें और फिर अधूरापन हमारे मार्ग की बाधा न बने। उनका महत्त्व सिर्फ इसलिए नहीं है कि उन्होंने देश व समाज के लिए स्वयं को समर्पित किया बल्कि इससे भी अधिक महत्त्व इस बात में है कि स्वामी दयानन्द ने जो ज्योति जलाई थी उसको उन्होंने प्रज्ज्वलित किये रखा और भारतवर्ष की आत्मा को जाग्रत किया। इतिहास में उनका वही स्थान है जो रामकृष्ण परमहंस के प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द का। यदि स्वामी दयानन्द को स्वामी श्रद्धानन्द न मिले होते तो उनका काम अधूरा ही रह जाता।

Type text here

अध्याय दो

साहित्य साधना

जिस समय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कार्य आरम्भ किया उस समय पंजाब की मुख्य भाषा उर्दू थी। उसी में सब काम होता था। साहित्य का सर्जन भी उसी भाषा में होता था। श्रद्धानन्द जी की मातृभाषा पंजाबी थी जो पारिवारिक जीवन के क्षेत्र तक ही सीमित थी। हिन्दी का जो कुछ भी प्रचार हुआ वह आर्य समाज के कारण हुआ। वह इसे आर्य भाषा कहकर पुकारते थे लेकिन अभी उसमें साहित्य लिखे जाने की परिपाटी नहीं चली थी। केवल श्रद्धाराम फिल्लौरी ने जो सनातन धर्म के प्रसिद्ध नेता थे, सन् १८७७ ई. में 'भाग्यवती' नाम का एक उपन्यास लिखा था लेकिन यह प्रकाशित १८८७ में हुआ था।

स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द ने सबसे पहली रचना उर्दू में ही लिखी थी। वह भी 'वर्ण व्यवस्था' पर। बाद में वह हिन्दी में प्रकाशित हुई। उन्होंने पहला साप्ताहिक पत्र सद्धर्म प्रचारक-१८८९ ई. में उर्दू में ही निकाला था। इस पर एक सज्जन ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा था कि स्वामी दयानन्द के शिष्य होने पर भी आपने अपना पत्र उर्दू में निकाला है। इसके बाद स्वामीजी ने सद्धर्म प्रचारक को १ मार्च, १९०७ ई. से हिन्दी में निकाला।

स्वामी जी एक सिद्ध हस्त लेखक थे। उन्होंने विपुल साहित्य की रचना की और तीनों भाषाओं में की-हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी। हिन्दी में उन्होंने विभिन्न विषयों पर लगभग २५ पुस्तकों की रचना की। उनमें से अधिकतर धार्मिक विषयों पर हैं। आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य जाति का सुधार करना था इसलिए स्वामी जी ने 'आचार अनाचार और छुआछूत', 'जाति के दीनों को मत त्यागो', 'वर्तमान मुख्य समस्या अछूत-पन के कलंक को दूर करो', ऐसी पुस्तकें भी लिखी। साहित्यिक दृष्टि से जिन पुस्तकों का महत्त्व हो सकता है-उनमें 'मातृभाषा का उद्धार', 'उत्तराखण्ड की महिमा', 'बंदीघर के विचित्र अनुभव', 'आर्य पथिक लेखराम' और 'कल्याण मार्ग का पथिक' महत्त्वपूर्ण है। इनमें जो सबसे अधिक प्रसिद्ध और जिसे हिन्दी साहित्य के सभी समीक्षकों ने एक स्वर से उत्तम रचना माना, वह है 'कल्याण मार्ग का पथिक'। यह कैसे लिखी गई। इसका विवरण देते हुए स्वयं स्वामी जी ने १९२४ ई. में इस पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है "ज्येष्ठ संवत १९३३ तक की कहानी (१८७६ ई) , आज से दो वर्ष पूर्व

ही लिख छोड़ी थी (१९२२ ई), आर्य समाज के प्रवेश के समय से संवत् १९४९ (१८९२ ई) का वृत्तान्त सद्धर्म प्रचारक" साप्ताहिक पत्र में कुछ आप बीती कुछ जग बीती के शीर्षक से छपता रहा। उनमें से असंबद्ध विस्तार को संक्षिप्त करके उस समय की कथा लेखबद्ध की गई। इन दोनों समयों के बीच का वृत्तान्त मियां वाली जेल के एकांत निवास में लिखा था। निस्संदेह मेरी स्मरण शक्ति ने भी घटनाओं के ठीक वर्णन में सहायता की है। परन्तु मुझे विद्यार्थी जीवन व्यतीत करते ही आत्मचिंतन का व्यसन सा लग गया था इसलिए 'दिन-पत्रिका' (डायरी) रखने का अभ्यास था। उस दिन पत्र-पत्रिका से तिथियों, घटनाओं के संशोधन में बहुत सुभीता रहा।"

वह मानते थे कि अपनी आत्मकथा लिखने का अधिकार उन्हीं उच्च कोटि के महापुरुषों को है जिन्होंने किसी न किसी रूप में कोई न कोई अपूर्व कार्य किया है। उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया लेकिन फिर भी उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखनी क्यों आवश्यक समझी? इसकी चर्चा करते हुए वह इसी प्रस्तावना में लिखते हैं, "किस प्रकार धार्मिक क्रमशः धार्मिक दासता से उत्तरोत्तर हिन्दु समाज को मुक्ति मिलती गयी और अपनी राजनीतिक दासता का भी उनको परिज्ञान हुआ। इसके समझने के लिए युग विधाता आचार्य दयानन्द के जीवन चरित्र का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है। परन्तु उस परिवर्तन के बहुत से कर्म तभी मालूम हो सकते हैं जब कि ऋषि के वे अनुयायी जिन्होंने स्वयं उसका सहवास किया है अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को खोलकर जनता के सामने रख दें।" यही काम स्वामी जी ने किया। अपनी आत्मकथा को ऋषि दयानन्द के चरणों में समर्पित करते हुए उन्होंने भाव विह्वल होकर लिखा है–

"मैं क्या था इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं, मैं क्या बन गया और अब क्या हूँ? यह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है। इसलिए इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्म शताब्दी पर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूं।"

जैसा कि उन्होंने कहा है सचमुच उन्होंने अपनी आत्मकथा में अपने अंतः करण को खोलकर रख दिया है। उनकी आत्मकथा 'क्या थे' और 'क्या हो गए' इस प्रक्रिया को पूरी तरह से रेखांकित करती है। उस प्रक्रिया में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य, नैतिक और अनैतिक जो कुछ भी घटा, उसका उन्होंने मुक्त मन से वर्णन किया है और इसलिए किया है कि पाठकवृन्द 'कल्याण मार्ग का पथिक' की कहानी में जो कुछ भी शिक्षाप्रद दिखाई दे उसे ग्रहण करें परन्तु जो कुछ अहित- कर प्रतीत हो, उसको उपेक्षा की दृष्टि से ही देखें।

हिन्दी के कुछ आलोचकों ने इस आत्मकथा को इसीलिए सोद्देश्य माना है। डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास" में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और उसके बाद के कुछ उल्लेखनीय आत्मचरितों में "कल्याण मार्ग–का पथिक" की गणना भी करते हैं। उनका यह मानना है, "आर्य समाज और अन्य आध्यात्मिक प्रभावों के अन्तर्गत भी कुछ आत्मचरित लिखे गए जिनके लेखक ने अपने चारित्रिक विकास और आध्यात्मोमुखता का विश्लेषण किया है। ये आत्मकथाएं कुछ वैसी ही सोद्देश्य हैं जैसी कि महापुरुषों की जीवनियाँ। मूलदृष्टि दोनों जगह सुधार–वाद से प्रेरित है। ऐसी रचनाओं में आत्मकथा लेखक स्वयं बहुत अधिक हैं। वह निर्वैयक्तिकता जो आधुनिक काल के अधिकाधिक स्वचेतन होते लेखक ने विकसित की है इन रचनाकारों के लिए सुलभ न थी।"[१]

यह सुखद आश्चर्य की बात है कि चतुर्वेदी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि निर्वैयक्तिक होना उस समय संभव नहीं था। अन्यथा, आज समीक्षा का जो रूप है, उसके अनुसार तो, इस आत्मकथा को उल्लेखनीय भी नहीं माना जाता और बहुत से इतिहासकारों ने माना भी नहीं है।

"हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन" पुस्तक के लेखक डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त भी इस आत्मकथा को शिक्षाप्रद आत्मकथा ही मानते हैं और इसके समर्थन में स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द के वाक्य जो उन्होंने 'प्रस्तावना' में लिखे हैं, उद्धृत करते हैं, "इसमें संदेह नहीं है कि मेरी गिरावट की कहानियाँ बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगाएंगी। परन्तु मुझे विश्वास है कि इस आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।"

वह सुधारवाद का युग था। इसलिए तद्युगीन लेखक जो कुछ लिख रहे थे उसका उद्देश्य मार्गदर्शन ही था। लेकिन क्या यह कम महत्त्वपूर्ण वात है कि कोई लेखक अपने को इस सीमा तक निरावरण कर दे कि पाठक चकित रह जाएं। यह साहस विरले पुरुषों में ही होता है और उन्हीं में होता है जिनमें आत्मिक वल अपनी चरम सीमा में होता है। पश्चिम में तो अपने को सहज रूप से मुक्त कर देने की परिपाटी है लेकिन हमारे देश में नैतिकता और अनैतिकता का द्वन्द्व सदा लेखक को घेरे रहता है। नैतिकता पश्चिम में भी है लेकिन उसके अलग मानदण्ड हैं। इन अलग-अलग मानदण्डों के पीछे अपनी-अपनी संस्कृति, संस्कार और भूगोल का प्रभाव होता है। कभी-कभी प्रतिक्रिया स्वरूप भी आदमी अपने को खोल देता है मानो चुनौती देता हो, लो, देखो, मैं यह हूँ। वास्तव में यह आहत अंह का विस्फोट है सहज भाव से अपने को मुक्त करना नहीं है। इस विषय पर विवाद हो सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द ने भले

१. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास-रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. सं.-१९१

ही दूसरों को मार्ग दिखाने के लिए अपनी आत्मकथा लिखी हो लेकिन उन्होंने ऐसी नितांत बेवाकी से अपने को खोलकर रख दिया है कि उसके बाद कुछ भी छिपा नहीं रहता।

उनके जीवन वृत्त में हम ऐसी बहुत सी घटनाओं का वर्णन कर आयें है जिनमें उनके अंतर्मन और बाह्य मन के बीच कोई तीसरी दीवार दिखाई नहीं देती। इन्द्र जी के शब्दों में, "उन्होंने अपने आत्मचरित में अपने बचपन और यौवन के सब दोष खुली पुस्तक की तरह खोल कर रख दिये हैं।"

ऐसा भी नहीं है कि वह कोरा वर्णन मात्र ही हो। कहीं कहीं तो वह कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है और हमको (पाठक) वहुत गहरे छू जाता है जैसे एक दिन वह शराब में धुत वेश्या के कोठे से लड़खड़ाते हुए घर आते हैं और उनकी बालिका वधू शिवदेवी उन्हें बिना किसी प्रतिक्रिया के सहज भाव से सम्भाल लेती है उस समय के स्वामी जी के ये शब्द कितने मार्मिक हैं—"छत पर पहुँचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बन्द कर लिए और अभी बरामदे के पास पहुँचा ही था कि उल्टी होने लगी। उसी समय एक नाजुक छोटी उंगलियों वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने उल्टी खुलके की। अव मैं शिवदेवी के हाथों में वालकवत् था. . ."

इस तरह के अनेक चित्र इस जीवनी में देखने को मिल जाते हैं वे केवल यह प्रमाणित नहीं करते हैं कि इनके लेखन का उद्देश्य मात्र सुधारवाद है बल्कि उनके अंतर में जो घमासान मचता था वह इस तरह के कलात्मक चित्रों का स्वयं ही कारण बन जाता था। घोर अंधकार में जैसे वह सौन्दर्य की ज्योतिर्मयी रेखाओं को स्पष्ट देख लेते हैं।

निर्वैयक्तिक होना क्या इससे कुछ अलग होता है।

आर्य समाज के जाने माने इतिहासकर और साहित्यिक डा. सत्यकेतु विद्यालंकर ने डा. भवानीलाल भारतीय तथा प्रो. हरीदत्त वेदालंकार द्वारा लिखित "आर्य समाज का इतिहास" का संपादन किया है। उसके पाँचवे भाग में "कल्याण मार्ग का पथिक" की विस्तृत चर्चा हुई है। इसके पाँचवे भाग के पृष्ठ ३७९ पर वह लिखते हैं, "नाना दुर्व्यसनों, बुराइयों तथा कल्पना युक्त कृत्यों से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला अधोगामी पुरुष भी दृढ़ संकल्प तथा उर्ध्वगामी प्रवृत्तियों को विकसित करने की प्रबल इच्छा लेकर किस प्रकार कल्याण मार्ग का पथिक बन सकता है यह श्रद्धानन्द के जीवन से भली-भाँति प्रकट होता है।"

एक स्थान पर उन्होंने अपनी आत्मकथा को कुछ आपबीती कुछ जगबीती कहा है। लेकिन आर्यसमाज के इतिहासकार का कहना है कि "यह पुस्तक मेरी जिन्दगी के

नशेबो फराज़ (मेरे जीवन का पतन और उत्थान) नाम से सद्धर्म प्रचारक में धारावाहिक रूप में छपती रही है। इसमें मथुरा के चौबों, बनारस की गलियों के वर्णन सर्वथा औपन्यासिक प्रतीत होते हैं।"[१]

नाना दुर्व्यसनों में आकण्ठ डूबे मुंशीराम के जीवन में परिवर्तन की सुखद घड़ी कब और कैसे आयी इसका श्रेय तीन व्यक्तियों को जाता है। उनमें सबसे प्रथम है उनकी बालिका वधू शिवदेवी, जिसकी चर्चा बार-बार की है। कहा जाता किसी पुरुष की सफलता के पीछे कोई न कोई नारी होती है। लेकिन स्वामीजी की महान्ता के पीछे दो नारियों के अतिरिक्त एक महान् स्वामी भी हैं। वही स्वामी जिसके जादू से बचाने के लिए उनकी माँ ने जी तोड़ प्रयत्न किया। वह लिखते हैं, "माताजी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थी इस भय से कि कहीं हम दोनों भाई जादूगर केफंदे में न फंस जाएं। पिताजी ने पीछे बतलाया था कि यह प्रसिद्धि अवधूत दयानन्द की थी। माता जी को क्या मालूम था कि उनके देहांत के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जाएगा।..."[२]

लेकिन अंतिम रूप से जिस घटना ने उनके जीवन को अंधकार के गर्त से निकालकर ज्योतिर्मय जगत में पहुँचा दिया उसका संबंध तो उनकी पत्नी से है। अपनी मृत्यु शैय्या पर उन्होंने अपने पति को पाँच पंक्तियों का एक पत्र लिखा था जो उनके देहावसान के बाद महात्मा मुंशीराम को मिला, उस पत्र में लिखा था, "बाबूजी, अब मैं चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपमती, बुद्धिमती सेविका मिल जाएगी। परन्तु उन बच्चों को कभी मत भूलना। मेरा अंतिम प्रणाम स्वीकार करो।" स्वामी जी के शब्दों में, "वे वाक्य मेरे हृदय पर अंकित हो गए। रात को मैंने एक घन्टे तक परमात्मा से बल के लिए प्रार्थना की और यह दृढ़ व्रत धारण किया कि बच्चों के लिए माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूंगा।"

इसका अर्थ था कि उन्होंने जीवनभर अविवाहित रहने का संकल्प लिया और इसी कारण उन्होंने न केवल अपने बच्चों को माता का स्नेह दिया बल्कि आगे चलकर वह गुरुकुल के विद्यार्थियों को भी वैसा ही स्नेह दे सके। वास्तव में महात्मा मुंशीराम का यह दूसरा जन्म था और महानता के शिखरों को छूने की शक्ति देने वाला था। एक ओर हिंसक पशुओं से भरे बीहड़ जंगल में गुरूकुल की स्थापना करने वाले, वहीं दूसरी ओर चांदनी चौक में अंग्रेजों की संगीनों के सामने सीना खोल देने वाले श्रद्धानन्द से कौन भारतीय अपरिचित है। उनका सारा जीवन संघर्ष और आत्मोत्थान की अद्भुत कहानी है।

Type text here

१. पिछला खण्ड देखें, पृष्ठ सं. १४-१५

२. कल्याण मार्ग का पथिक, पृ. सं.—१०

इस आत्मकथा की कुछ और विशेषताएं भी रेखांकित करने योग्य है। मार्मिक से मार्मिक और भयानक से भयानक घटनाओं का वर्णन उन्होंने बहुत ही संतुलित भाषा में किया है। वह उर्दू से हिन्दी की ओर आए इसलिए उनकी भाषा में प्रेमचन्द की भाषा जैसी सादगी है। उनकी मातृभाषा पंजाबी थी इसलिए यह स्वाभाविक है कि कुछ शब्द पंजाबी के भी सहज भाव से उनकी भाषा में आ गए हैं। और यह आना भाषा के लिए स्वास्थ्यकर ही प्रमाणित हुआ। क्योंकि एक समय ऐसा भी आया जब आर्य समाज ने हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों पर जोर दिया। लेकिन ऐसे व्यक्तियों के प्रयत्न सफल नहीं हो सके। आर्य समाज का प्रचार सबसे अधिक पंजाब में हुआ इसलिए भले ही वे हिन्दी को आर्य भाषा कहें लेकिन शुद्धता का भूत उन्हें बहुत परेशान नहीं करता।

इस आत्मकथा में, पाठक कह सकते हैं कि हमें उन स्वामी श्रद्धानन्द के दर्शन नहीं होते जिनकी भव्य मूर्ति से इस देश के ही नहीं, बल्कि विश्व के नेता प्रभावित हुए। साहस और सत्यप्रियता, दृढ़ता और सेवा भावना, अनुशासन प्रियता, सच्चरित्रता, तर्कप्रवीणता एवं अलौकिक वाक् शक्ति आदि सद्‌गुण बाद में प्रकाश में आए। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है, "पंजाब के समस्त आर्य समाजों की प्रतिनिधि सभा का वार्षिक चुनाव था जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी न रहा। वह सार्वजनिक हो गया और इसलिए अपनी जीवन यात्रा की दूसरी मंजिल को मैं यहीं समाप्त करता हूँ।[१]

इसके आगे का जीवन वृत्तान्त संभवतः उन्होंने इसीलिए नहीं लिखा क्योंकि वह अपने महत्त्वपूर्ण और यशस्वी जीवन की उपलब्धियों को अंकित करना उचित नहीं समझते थे। इसीलिए बहुत से व्यक्ति इस आत्मकथा को अधूरी आत्मकथा मानते हैं।

लेकिन "हिन्दी का आत्मकथा साहित्य" के लेखक डा. विश्वबंधु मानते हैं। "उन्होंने अपनी आत्मकथा के प्रथम भाग को "अनृत जीवन से श्रेय की ओर" एवं द्वितीय भाग को "प्रकाश की क्रमशः विजय" बताया है, और यही विभाजन आर्य समाज में प्रवेश की दहलीज के आधार पर किया है। इस आत्मकथा से पाठक ऐसा प्रभाव प्राप्त करता है कि यदि व्यक्ति की आत्मा जागृत हो तो सत्संग के प्रभाव से उसे लोहे से सोना बनते देर नहीं लगती।

इस प्रकार यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि तथ्यात्मकता, आत्मविवेचन, आत्मपरीक्षण, आत्मविश्लेषण, सत्यकथन एवं अतीत चित्रण की दृष्टि से यह आत्मकथा एक उच्चस्तरीय रचना है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी अत्यन्त आकर्षक, रोचक, सरस, सरल एवं प्रेरणास्पद है।[२]

---

१. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य—डा. विश्वबंधु, पृष्ठ संख्या-१९४ २. १९५ पृष्ठ

स्वामी जी की दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक, जो उन्हें निश्चित रूप से एक सर्जक के रूप में प्रतिष्ठित करती है, वह है "बंदीघर के विचित्र अनुभव"। उन्होंने १० सितम्बर, १९२२ई. को अकाली सिखों द्वारा चलाए गए गुरु का बाग सत्याग्रह में भाग लिया था और जेल गए थे। इस सत्याग्रह में कांग्रेस के पं. मदन मोहन मालवीय, हकीम अजमल खाँ, पं. प्यारे लाल शर्मा, पं. जवाहर लाल नेहरू जैसे मूर्धन्य नेताओं ने भी भाग लिया था। स्वामी जी का यह कारावास जीवन अमृतसर और मियाँवाली (अब पाकिस्तान) जेलों में व्यतीत हुआ। उन्होंने अपने जेल-जीवन के उन अनुभवों को "बंदी घर के विचित्र अनुभव" शीर्षक पुस्तक में संग्रहित किया है। इसका प्रथम संस्करण १९२३ ई. में दिल्ली से हुआ था।

जेल में रहते हुए उन्होंने अनुभव किया कि जेल मैनुअल मात्र दिखावा है। कैदियों के साथ अत्याचार, दुर्व्यवहार का मार्मिक वर्णन इस पुस्तक में मिलता है। "कारण्टीन गृह का वर्णन" करते हुए वह लिखते हैं, "जिस गृह की निचली कोठरी में मैंने रात काटी, उसका नाम कारण्टीन है। सत्रह पिंजरेनुमा कोठरियाँ नीचे और इतनी ही ऊपर हैं। उससे आठ-दस कदम की दूरी पर जेल की पिछली बड़ी दीवार है। कारण्टीन के ठीक मध्य, इमारत और दीवार के ठीक बीचों-बीच पाखाना है। पाँच बजे पिंजरे खुलने की घंटी बजी फिर पौने ८ बजे रोटी बाँटने की। पाखाने में केवल छह आदमियों के लिए पीठ से पीठ जुड़ी हुई बैठने की जगह, ईंटों की खुड्डी भी नदारद और पर्दा ऐसा जैसा भंग पीने वाले पुत्र ने पिता की आँख बचाने के लिए तिनके को कर दिया था। इस पाखाने में ३५ कारण्टीन के और ५२ छौलदारियों वाले कैदियों को निवृत्त होना होता था। फिर दो-तीन नम्बरदारों और उतने ही चपरासियों का भी इसी पर निर्वाह था। नहाने का तो उस समय नाम लेना भी कैदी के लिए पाप। घंटी बजी और अपना अपना लोहे का दो-ढाई आने वाले मूल्यवाला (दरोगा जी ने यही मूल्य बतलाया था) बाटा हाथ में लिए कैदी पंक्ति में उकड़ूँ बैठने लग गए। कोई भाई अभी पाखाने बैठा ही है कि एक पठान नम्बरदार ने पकड़कर उसे गर्दनिया दी। वह गरीब आबदस्त लेकर ही पंक्ति में बिना बाटे के बैठ गया और उस अधकच्ची जली हुई रोटी पर ही दाल डलवाकर खाने लगा। यदि उस समय इस उत्तम भोजन को खाना शुरू न करे तो दिनभर भूखा रहे और घेलुए (पंजाबी संगे) उसे शायद पांच-सात दिन के लिए डंडा-बेड़ी भुगतनी पड़े।[१]

इससे पूर्व स्वामी जी को गिरफ्तार करने के बहुत से प्रयास किए गए। क्योंकि ३० मार्च से १५ अप्रैल सन् १९१९ तक दिल्ली में चली हड़ताल के लिए वे स्वामी जी को ही दोषी मानते थे। स्वामी जी लिखते हैं "उस सारे समय में डिप्टी और चीफ

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली -भाग-४, पृष्ठ संख्या-१२७

कमिश्नर सारे फ़साद की जड़ मुझे ही समझते रहे। यदि कोई गवर्नमैंट का बागी था तो मैं था" इसीलिए विभिन्न मिथ्या आरोपों में स्वामी जी को गिरफ्तार करने की सात बार नाकाम कोशिश की गई किन्तु आठवीं बार गुरु का बाग सत्याग्रह में वह गिरफ्तार कर लिए गए।

जेल में रहते हुए उनका ध्यान न केवल कैदियों की दुर्दशा की ओर गया बल्कि जेल के अधिकारियों व सिपाहियों की दुर्दशा का भी उन्होंने मार्मिक चित्रण किया है, "लारी पर मार्ग में तीन पास के सिपाहियों ने मुझे फकीर देखकर दवाई पूछी। तीनों को प्रमेह रोग था और तीनों ने मेरे पूछने पर ऐसी भयंकर दशा वर्णन की, जिससे मुझे फिर से विश्वास हुआ कि पहले देश के अन्दर मनुष्यत्व का पुनरूत्थान होना चाहिए, तब सत्य, अहिंसा, स्वाधीनता और अन्य गुण राष्ट्र में आ सकते हैं, और उसके पीछे स्वराज्य हाथ बांधे सामने आ खड़ा होगा।[१]

इस समय महात्मा गाँधी के विचार उनके अन्तर में इस प्रकार समा गए थे कि इस पुस्तक का समापन करते हुए वह लिखते हैं। "यद्यपि बहुत-सी जेलों में अत्याचार होते हैं। परन्तु उनसे दुख उन्हीं को होता है जो महात्मा गाँधी की कांग्रेस द्वारा संपादित इस प्रतिज्ञा को भूल जाते हैं कि जितना भी हम निरपराध होते हुए अत्याचारों को सहन करेंगे उतना स्वराज्य हमारे समीप आयेगा। ऐसे अत्याचारों पर कांग्रेस से बाहर के व्याख्यानदाता जो चाहें टिप्पणी चढ़ावें, परन्तु शांतमय असहयोग, एक शब्द भी अपने मुँह से शिकायत में न निकालना, शान्तमयी (अदम-तशद्दुद Non-violence) के विषय में भी ऐसे विचार मैंने मियाँवाली जेल के कुछ राजनैतिक कैदियों से सुने हैं।[२]

वस्तुतः यह पुस्तक मानवीय दर्द का सहानुभूतिपूर्ण चित्र है। और इस दर्द को सहज में स्वामी श्रद्धानन्द ने शब्द दे दिए हैं।

"कल्याण मार्ग का पथिक" और "बंदी घर के विचित्र अनुभव" के बाद स्वामी जी की तीसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, "आर्यपथिक पंडित लेखराम"। यह पुस्तक पंडित लेखराम की जीवनी है। स्वामी श्रद्धानन्द का उनके साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। आर्य समाज के प्रारम्भिक काल में जिन व्यक्तियों ने अपने अनथक परिश्रम और समर्पण की भावना से काम किया और उसे वह गरिमा प्रदान की जिसने भारत के जीवन को एक तरह से बदल दिया, निकटतम सहयोगी और मित्र होने के नाते स्वामी जी ने उनके जीवन को सही परिप्रेक्ष्य में देखा और प्रस्तुत किया है। पं. लेखराम के चरित्र की सफलताओं और निर्बलताओं को निरपेक्ष भाव से चित्रित किया। अपने कर्म के प्रति निष्ठा तथा दूसरों के मत का सम्मान करते हुए अपने मत का प्रतिपादन, गृहस्थ सन्यासी

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-४, पृष्ठ-१३६

२. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग ४ पृष्ठ-१५२

लेखराम के जीवन व चरित्र के विविध पहलू उस जीवनी में दिखाई देती है। वे न केवल मंत्रों का पाठ करते थे बल्कि वह इन मंत्रों में बतलाई हुई अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते थे। उनके जीवन में ऐसी बहुत सी घटनाएं मिलती हैं जिनका वर्णन कायर हृदयों के अंदर वीरता का संचार कर देता है।

पं. लेखराम उन प्रारम्भिक सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से थे जिन्हें स्वामी दयानन्द सरस्वती के न केवल दर्शन करने का अवसर मिला था बल्कि उनके साथ रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। लेखराम जी में अध्ययन और अन्वेषण की प्रवृत्ति कैसी प्रबल थी इसका वर्णन करते हुए स्वामी जी ने लिखा है कि वह इस्लामी मत की पुस्तकें बड़े मनोयोग पूर्वक पढ़ा करते थे। यह देखकर उनके एक मित्र ने उनसे पूछा, "आप मुसलमानी मजहब की पुस्तकों को इतना क्यों पढ़ते हैं? यदि मुहम्मदी मत आपको सच्चा लगे तो क्या आप मुसलमान हो जाएंगे? वहाँ के लिए कुछ सोचने का आवश्यकता न थी; उत्तर मिला—बेशक! अगर दस घड़े रखे हों और यह मालूम न हो कि ठण्डा पानी किसमें है तो जब तक थोड़ा-थोड़ा पानी सबमें से न पिया जाए तब तक कैसे पता लग सकता है कि किस घड़े का पानी ठण्डा और मीठा है? इसी तरह सब मतों की पुस्तकों की पड़ताल करके पता लगाना चाहिए कि सच्चा धर्म कौन सा है?[१]

धर्म के प्रचार के लिए उस समय सभी साधनों का प्रयोग करते थे उनमें सबसे प्रबल साधन था पत्रकारिता। पं. लेखराम को जब १८८७ ई. में 'आर्य गजट' फिरोजपुर का संपादक बनाया गया तो उनके हाथों में आकर वह बहुत शीघ्र ही एक शक्ति बन गया। लगभग दो वर्ष तक उन्होंने इसका संपादन किया। उस समय उनके लिखे हुए लेख दूसरे पंथ वालों पर गहरा प्रभाव डालते थे।

स्वामी जी ने उनकी दुर्बलताओं को भी अपनी आत्मकथा की तरह बेबाकी से लिखा है कि वह कितने असहिष्णु थे। अपने धर्म का वह अपमान नहीं सह सकते थे। यहाँ तक कि एक बार किसी बच्चे द्वारा गमले पर लिखे 'ओउम' शब्द पर जूते से प्रहार करने पर बौखला उठे थे और तेज ज्वर होते हुए भी उस स्थान को छोड़ने को तत्पर हो गए। इसी तरह जब उनके एक बड़ा फोड़ा निकला तो उनका आग्रह था कि वह एक आर्य समाजी डाक्टर से ही इलाज करवाएंगे।

स्वामी जी ने इस तरह की दुर्बलताओं को उजागर किया है लेकिन निन्दा के रूप से नहीं बल्कि उनके बालकोचित स्वभाव को प्रकट करने के लिए। उन्होंने लेखराम जी के गुण-दोषों का तटस्थ दर्शक के रूप में वर्णन किया है और प्रमाण स्वरूप उदाहरण भी दिए हैं।

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-४, पृष्ठ-१७

पं. लेखराम पहले व्यक्ति थे जिन्होंने स्वामी दयानन्द जी की जीवनी की सामग्री की खोज की और उस समय की दृष्टि से प्रामाणिक जीवन चरित लिखा है। उन्होंने इसके अतिरिक्त ३३ छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी। स्वामी जी ने इन सब बातों की चर्चा बहुत तटस्थ भाव से की है। न तो भावावेग में प्रशंसा की है और न निन्दा। इस जीवनी की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि पं. लेखराम के परम मित्र होते हुए भी उन्होंने अपने को कहीं भी आरोपित नहीं किया है। बल्कि इसके विपरीत जब भी ऐसा अवसर आया तो उसकी उन्होंने उपेक्षा ही की है।

"आर्य पथिक पंडित लेखराम" के जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवन की उपलब्धियों, उनके कार्यों तथा बलिदान को स्वामी श्रद्धानन्द ने सहज, स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान की है। धर्मोपदेशक के रूप में कठोर लेकिन एक सहज तथा कोमल हृदय वाले व्यक्ति के चरित्र को उन्होंने गहराई से समझा है। इसीलिए वह पं. लेखराम के जीवन का सजीव व प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करने में सफल हो सके। कला के मानदण्डों पर वह पूरी तरह खरी न भी उतरे परन्तु उन्होंने लेखराम जी के जीवन को एक तटस्थ द्रष्टा बनकर देखा है।

पत्रकारिता

पत्रकारिता के क्षेत्र में आर्य समाज का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। स्वामी दयानन्द के समय से ही उनकी प्रेरणा से अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं का जो सिलसिला आरम्भ हुआ वह अंततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में परिवर्तित हो गया। हिन्दी के लेखक श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है, "आर्य समाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।"

महात्मा मुंशीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी पत्रकारिता का जो रूप हम आज देख रहे हैं वैसा संभवतः नही ही होता। गुरुकुल के स्नातकों ने इस क्षेत्र में जो योगदान दिया वह हर दृष्टि से प्रशंसनीय और सराहनीय है। स्वयं स्वाजी ने सबसे पहले सन् १८८९ ई. में 'सद्धर्म प्रचारक' के नाम से एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकाला। 'सद्धर्म प्रचारक' के प्रकाशन से कुछ वर्ष पूर्व ही राष्ट्रीय जागरण के प्रसारण हेतु अनेक पत्र हिन्दुस्तान, केसरी, ट्रिब्यून, इंडियन मिरर आदि प्रकाशित होने लगे थे। बाद में तो पं. सुन्दरलाल जी ने भी उग्र नीति समर्थक उर्दू पत्र 'स्वराज्य' निकाला। ब्रिटिश सत्ता के प्रति सद्धर्म प्रचारक का रूप भी उग्र था। लोकमान्य तिलक मुंशीराम जी के आदर्श थे। तिलक ने १८८१ ई. में केसरी का प्रकाशन आरम्भ कर

दिया था। उसकी नीति भी जनता में जागृति पैदा करना थी। वह राजसत्ता के लिए नहीं लिखते थे। उन्हीं के शब्दों में "अपने मन के सब विचार, सारा उत्साह, शक्ति और सम्पूर्ण आग पाठकों के मन में उतरे, इसी हेतु से लिखते हैं।" यह शब्द महात्मा मुंशीराम के लिए आदर्श बन गए। और राजनीतिक दृष्टि से 'सद्धर्म प्रचारक' तिलक युग की पत्रकारिता का प्रतीक बन गया। यह पत्र पहले उर्दू में प्रकाशित होता था। एक दिन अचानक किसी ने व्यंग्य करते हुए कहा, "स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्र उर्दू में निकालते हो। इस व्यंग्य से महात्मा मुंशीराम के हृदय में तुमुलनाद मच उठा और अन्ततः १मार्च १९०७ ई. में सद्धर्म प्रचारक की भाषा हिन्दी कर दी गई। लेकिन उर्दू में भी संस्कृत के शब्दों का प्रयोग सहज भाव से किया जाता था। मित्रों ने बहुत समझाया कि पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही है। अब हिन्दी में उसे कौन पढ़ेगा। पंजाब में तो हिन्दी केवल स्त्रियाँ ही पढ़ती है। उनका उत्तर था, "देश की राष्ट्र भाषा हिन्दी हैं। स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी के ग्रन्थ लिख सकते हैं तो हम उनके अनुयायी थोड़ा सा त्याग नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है।"

और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए ही बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी। सन् १९११ ई. से यह पत्र दैनिक रूप से प्रकाशित होने लगा। लेकिन सन् १९१२ ई. में प्रैस में आग लग गई और इसे दिल्ली से प्रकाशित करना पड़ा। लेकिन फिर ३० जून, १९१५ ई. को यह पत्र गुरुकुल से निकलने लगा। प्रैस भी चला गया। यह पत्र मुख्य रूप से आर्य समाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक था। विशेष रूप से महात्मा मुंशीराम के भावों और विचारों का संपूर्ण प्रतिफलन इसमें होता था इसे महात्मा जो वाद में संन्यास लेकर स्वामी श्रद्धानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए, का मार्गदर्शन अब भी प्राप्त था। इतना ही नहीं इस पत्र में राष्ट्रीय आंदोलन को लेकर भी लिखा जाता था विशेषकर इन्द्र जी, जब वह राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ गए, तो इसमें वह खुलकर लिखा करते थे।

राजनीतिक टिप्पणियों से प्रभावित होकर श्री गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे तपस्वी पत्रकार उनसे मिलने गुरुकुल आए थे।

इस पत्रिका में 'संसार की गति' कालम में तत्कालीन घटनाओं का लेखा-जोखा भी रहता था। लेकिन अंततः १९२२ ई. में किन्हीं कारणों से यह पत्र बन्द हो गया।

इसकी भाषा कैसी थी? यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा जो उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में अन्याय के विरुद्ध लड़ते हुए महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आंदोलन को लेकर अपने संपादकीय में लिखा था। वहाँ की सरकार ने समझौते के

रूप में यह प्रतिज्ञा की थी कि सत्याग्रही यदि नियम तोड़ना बन्द कर दें तो हम कानूनं में परिवर्तन कर देंगे। ब्रिटिश सरकार ने भी उच्च स्वर में घोषणा की कि हम अफ्रीका के उपनिवेश में कोई भी ऐसा कानून न बनने देंगे जिससे भारतवासियों की स्थिति कमजोर हो। लेकिन किसी ने कुछ नहीं किया। तब स्वामीजी ने 'सद्धर्म प्रचारक' में इस विश्वासघात पर गहरा प्रहार करते हुए ज़ोरदार टिप्पणी लिखी और गाँधी जी से दुबारा सत्याग्रह आरम्भ कर देने का समर्थन किया। यही नहीं उन्होंने यह भी लिखा, "इस समय हमारा कोई कर्तव्य नहीं है"? हमारे प्रवासी भाई और क्या उसी माता की संतान होकर हम चुपचाप बैठे रहेंगे। हम जानते हैं कि इस समय हम तन से अपने भाइयों की सहायता नहीं कर सकते। यदि अफ्रीका पर भी उसी सम्राट का शासन न होता जिसका शासन भारतवर्ष में चलता है तो भारतवासी दिखला देते कि वे अभी भी क्या कर सकते हैं? इस समय केवल हमारे पास मन और धन है जिससे हम अपने भाइयों की सहायता कर सकते हैं। जिस भारतवासी के पास कुछ भी मनन शक्ति है, जिसका हृदय बिल्कुल ही वज्र नहीं हो गया, वह अफ्रीका के जेल में पड़े हुए स्त्रियों और बच्चों को याद करके आँसू बहाए बिना नहीं रह सकता। आँसुओं के साथ-साथ धन की भी जरूरत है। जेल गए हुए भाइयों के परिवार अपने देश से हजारों मील दूर निस्सहाय पड़े हैं। जिनके नाम की आन को रखने के लिए यह पुण्य कार्य आरम्भ किया गया है। क्या वही इस समय उनकी सहायता न करेंगे? उन्हीं अपने प्रवासी भाइयों की सहायता के लिए हमने फण्ड खोलना निश्चित किया है जिस का नाम प्रचारक होगा। हमने यह छोटी रकम इसलिए रखी है ताकि प्रत्येक भारतमाता का पुत्र अपने भाइयों की सहायता में हिस्सा ले सके। निर्धन से निर्धन भारतवासी भी दो तीन दिन का तमाखू छोड़कर चार आने इकट्ठा कर सकता है। चार आना छोटी से छोटी रकम है। इससे बढ़कर आप जितना भेजना चाहें, भेज सकते हैं।

प्रचारक परिवार से निवेदन

इस समय 'प्रचारक' परिवार से हम विशेष निवेदन करना चाहते हैं। प्रचारक परिवार सदा से ही अधर्म का विरोध करने और धर्म की सहायता करने के लिए प्रसिद्ध रहा है। याद रखना चाहिए कि वैदिक धर्म सार्वभौम धर्म है, वह मनुष्य से ही नहीं किन्तु प्राणिमात्र में प्रेम का सूत्र बांधने वाला है। हमारा धर्म जातियों में परस्पर प्रेम बढ़ाना चाहता है और काले, गोरे रंग के भेद को स्वीकार नहीं करता। इस समय अफ्रीका के गोरेवासी काले गोरे का प्रश्न उठाकर जातीय विद्वेष की ज्वाला प्रज्जवलित कर रहे हैं। और धर्म के मार्ग में काँटे बो रहे हैं। क्या सदा से धर्म का साथ देने वाला प्रचारक परिवार इस समय अपने कर्तव्य से पांव पीछे हटायेगा? हमें ऐसी आशा नहीं।"

इस पत्र के अलावा स्वामी जी के काल में गुरुकुल से और भी अनेक पत्र–पत्रिकायें निकली, जिनमें प्रमुख है। श्रद्धा (१९२०) वैदिक संदेश (१९२१) अलंकार तथा गुरुकुल समाचार (१९२४) इनकी मृत्यु के बाद भी यह क्रम टूटा नहीं, गुरुकुल (१९३६), गुरुकुल पत्रिका (१९४८) इन दो पत्रिकाओं का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'गुरुकुल पत्रिका' उच्च कोटि की अनुसंधान पत्रिका थी।

ऊपर हमने 'श्रद्धा' का उल्लेख किया है यह पत्रिका स्वामी श्रद्धानन्द के संपादन में १९२० में प्रकाशित हुई। उसका उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में यह था, "मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और स्वाभाविक समझता हूँ इसलिए इस 'श्रद्धा' के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा मात्रा पर भेजा करूँगा। प्रश्न हो सकता है कि समय की भाषा अंग्रेजी होने के कारण तुम्हारा साप्ताहिक संदेश देश के बड़े विचारक भाग तक न पहुँच सकेगा। परन्तु मेरा मन साक्षी देता है कि यदि मेरे पास कुछ वास्तविक संदेश नहीं तो अंग्रेजी द्वारा भी कोई न सुनेगा और यदि कोई संदेश है तो अंग्रेजी वर्णों को उसे समझने के लिए बाधित होना पड़ेगा।" इसमें विशेष रूप से हिन्दी और शिक्षा विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे लेकिन दुर्भाग्य से पत्रिका दो वर्ष चलने के वाद बन्द हो गई। इसकी भाषा पर 'सद्धर्म प्रचारक' की ही तरह से स्वामी जी का प्रभाव था। 'शिक्षा का सार्वभौम आदर्श' इस शीर्षक से अपने सम्पादकीय में वह लिखते हैं, "यह निर्विवाद सच्चाई है कि सब मनुष्य एक-सी शक्तियां तथा एक-सी प्रकृति को लेकर उत्पन्न नहीं होते। और यही बड़ी भारी दलील पुनर्जन्म के लिए है। जिसके आगे आजकल के सभ्य देशों के उच्च विचारक भी सिर झुका पा रहे हैं। जब यह ठीक है कि भिन्न–भिन्न रुचियां और भिन्न शक्तियां लेकर मनुष्य उत्पन्न होते हैं, तो उनकी शिक्षा के क्रम में भी भेद अवश्य होना चाहिए जिससे विधना (अर्थात् उनके कर्मों) ने जिस कार्य के योग्य उनको बनाया है उसी में लग कर वे अपने जीवन को सफल कर सकें। संसार में जो उच्च कोटि के काम अर्थात कविता, शिक्षा, उपदेश, राजशासन इत्यादि है उनका बीज अपने अंदर लेकर जन्मता है। अनके जन्मों के साधनों से ये उच्च शक्तियां संपादन की जा सकती है। तभी. तो वेद का आदर्श है कि आचार्य में यह मानसिक बल होना चाहिए कि अपने शिष्य की स्वाभाविक रुचि तथा शक्ति को पहचान कर ही उसकी आवश्यकता के अनुसार उसके लिए पाठ विधि नियत करे। शिक्षा का यही एक सार्वभौम नियम है जिस कारण से आचार्य और ब्रह्मचारी का घनिष्ठ निकट संबंध होना चाहिए। और सब नियम गौण हैं। इसी नियम को लक्ष्य में रखकर प्राचीन भारतवर्ष से गुरुकुल की प्रथा चली थी। इन्हीं ब्रह्मचर्याश्रमों का नाम तीर्थ था। 'समानती में वासी' इस उपनिषद् वाक्य में भी यही रहस्य है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषी दयानन्द ने ब्रह्मचर्याश्रम रूपी गुरुकुल स्थापित करके शिक्षा प्रणाली के सुधार के लिए बल दिया था। ऋषि

की इसी आज्ञा को मनुष्य मात्र के कल्याण का मुख्य हेतु समझकर कांगड़ी ग्राम की भूमि में गुरुकुल की वुनियाद रखी गयी थी।"

इससे पूर्व (श्रद्धा) स्वामी जी ने एक और साप्ताहिक पत्र निकाला था, वह था 'सत्यवादी' जो १९०४ ई. में प्रकाशित हुआ। इस पत्र का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इसके संपादकों में उस युग के दो दिग्गज और समर्पित पत्रकार पं. पद्म सिंह शर्मा और पं. रूद्रदत्त शर्मा (१९०८-९ ई) उसके संपादक रहे।

'अलंकार' मासिक पत्रिका जो एक जून १९२४ से प्रकाशित होनी आरम्भ हुई थी, उसमें गुरुकुल के छात्रों व स्नातकों की रचनाएं विशेष रूप से प्रकाशित होती थीं।

स्वामी जी ने स्वयं ही पत्रकारिता के क्षेत्र में नए प्रतिमान स्थापित नहीं किये वल्कि पत्रकारिता के प्रारम्भिक दौर में अपने दोनों पुत्रों को भी उसी मार्ग पर चलने की सक्रिय प्रेरणा दी। इनके पुत्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने १९१२ ई. में दिल्ली से एक साप्ताहिक पत्र 'विजय' का प्रकाशन शुरू किया जो दिल्ली का पहला हिन्दी साप्ताहिक था। यह शुद्ध राजनीतिक व सामाजिक पत्र था। १९१८ ई. में 'विजय' का दैनिक प्रकाशन शुरू किया।

अपने उग्र राजनैतिक स्वर के कारण सरकार ने उससे जमानत मांगी। लेकिन पत्र की आर्थिक स्थिति इस योग्य नहीं थी, इसलिए विवश होकर इस पत्र को १९२७ ई. में बंद कर देना पड़ा दिल्ली से निकलने वाला यह पहला हिन्दी दैनिक था। साथ ही उत्तर भारत में राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य पत्र था। सीमित साधनों के रहते हुए यह पत्र अंग्रेजी पत्रों से होड़ लेता था। इन्द्र जी ने अपने सुप्रसिद्ध हास्य व्यंग्य के स्तम्भ "वीणा की झनकार" का आरम्भ इसी पत्र से किया था।

पत्र के बंद हो जाने पर भी इन्द्र जी की इच्छा शक्ति पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने कुछ वर्षों बाद २३ अप्रैल १९२३ ई. में किसी तरह 'अर्जुन' पत्रिका का संपादन प्रारम्भ किया। इसके प्रकाशक थे स्वामी श्रद्धानन्द। यह पत्रिका आगे चलकर दिल्ली के सर्वाधिक प्रभावशाली हिन्दी दैनिक के रूप में छपने लगी हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में साप्ताहिक और दैनिक अर्जुन दोनों का विशिष्ट स्थान है। दोनों राष्ट्रीयता के प्रचारक थे आर्य समाज की विचारधारा की ओर भी उनका झुकाव था और इसलिए एक वार फिर ब्रिटिश सरकार के कोप का भाजन बने। उनके जीवन में अनेक उतार चढ़ाव आए और अंततः सन् १९३५ ई. में यह 'वीर अर्जुन' के नाम से फिर से प्रकट हुआ लेकिन तव तक इसका रूप बहुत कुछ बदल चुका था। और अंततः यह पंजाब के प्रसिद्ध आर्य समाजी नेता महाशय कृष्ण के पास चला गया।"

हिन्दी के अतिरिक्त भी स्वामी जी ने उर्दू व अंग्रेज़ी भाषा में पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। उर्दू में (१८८९-१९०७) 'सद्धर्म प्रचारक' अंग्रेज़ी का 'लिबरेटर' (१९२६ ई.) उल्लेखनीय है। इस पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वामी श्रद्धानन्द ने जो नींव डाली, श्री क्षेमचन्द्र सुमन के शब्दों में हम कह सकते हैं, "उस पर आज हिन्दी पत्रिकारिता का यह भवन खड़ा है।"

स्वामी श्रद्धानन्द और हिन्दी

हिन्दी ही देश की राष्ट्रभाषा है इस तथ्य को पिछली शताब्दी में ही देश के सभी मनीषियों ने स्वीकार कर लिया था और इनमें प्रायः वे महानुभाव थे जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी श्रद्धानन्द की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए आर्यसमाज और गुरुकुल कांगड़ी ने जो कुछ किया, उनकी प्रशंसा सभी ने की है।

स्वामीजी के कारण ही सबसे पहले आर्यसमाज ने यह आवाज उठायी कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होनी चाहिए। महात्मा मुंशीराम ने इस संवंध में गुरुकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए। यहाँ के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखे। परिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। यहीं पर सबसे पहले शताब्दी के प्रथम चरण में, हिन्दी के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना आरम्भ किया गया। हिन्दी में विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों के अभाव को भी दूर करने का सफल प्रयत्न किया गया। महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर जिन दो व्यक्तियों ने सन् १९०८ ई. में रसायन शास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, पुरातत्व, दर्शन जैसे विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार की, वे थे सर्वश्री महेश चन्द सिन्हा (१८८२-१९४२) और गोवर्धन शास्त्री (१८९१-१९२७) बाद में तो गुरुकुल के स्नातकों सहित अनेक विद्वान इस क्षेत्र में आए। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले विद्वानों में भी गुरुकुल के स्नातक प्रमुख रहे हैं। उपर्युक्त विषयों में हिन्दी में उच्चस्तरीय लेखन के लिए सत्यव्रत सिद्धातालंकार तथा सत्यकेतु विद्यालंकार जी को मंगला प्रसाद परितोषिक भी मिले। श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार को यह पुरस्कार उनकी पुस्तक, 'समाजशास्त्र के मूल तत्व' पर तथा श्री सत्यकेतु विद्यालंकार को "मौर्य साम्राज्य का इतिहास" पर मिला। गुरुकुल के स्नातकों में पण्डित इन्द्र विधावाचस्पति, पण्डित बुद्धदेव डा. सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, जयचन्द्र विद्यालंकार, डा. सत्यकेतु विद्यालंकार, पं. प्रियव्रत वेदवाचस्पति, हरिदत्तवेदालंकार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार, डा. रामनाथ वेदालंकार स्वामी सम्पूर्णानन्द और क्षितीश वेदालंकार के नाम उल्लेखनीय है। प्रसिद्ध साहित्यकार यशपाल यहाँ के विद्यार्थी रहे हैं। अभयदेव जी की प्रशंसा तो स्वयं मुंशीराम जी ने की है आचार्य रामदेव गुरुकुल के लिए आधार स्तम्भ थे। उनकी

योग्यता की प्रशंसा गाँधी जी ने की है वैदिक मैगजीन के सहारे उन्होंने लियो तालस्ताय तक को प्रभावित किया। प्रारम्भ में यह काम करना निश्चय ही बहुत कठिन रहा होगा। पर महात्मा मुंशीराम तो सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे। उन्होंने यह प्रमाणित करके कि हिन्दी के माध्यम से किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को चकित कर दिया। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

यही सब देखकर महात्मा गाँधी ने महामना पं. मदनमोहन मालवीय से कहा था, "गंगा के किनारे हरिद्वार के जगंलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी के गंगा किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे है।"

"३ मई सन् १९१३ ई. के 'सद्धर्म प्रचारक' में महात्मा मुंशीराम ने संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व लाट सर एंटनी मैक्डाना ल्ड को ससम्मान स्मरण किया था जिनकी कृपा से आर्य भाषा तथा देवनागरी अक्षरों को न्यायालयों में कुछ स्थान मिला था। यद्यपि संयुक्त प्रान्त में देवनागरी अक्षरों में प्रार्थना-पत्रादि लिए जाते थे। तथा सम्मन जारी होने की प्रथा भी प्रचलित कर दी गई थी। परन्तु न्यायालय के अहलकारों ने मनमानी की और हिन्दी में छपे कार्य के अवशिष्ट स्थानों को उर्दू में भरने लगे। इस पर महात्मा मुंशीराम जी ने पत्र में लिखा था, "यदि संयुक्त प्रान्त के विविध स्थानों से इस प्रकार से सरकारी पत्र मेरे पास पहुँच जावें, जिनमें आर्य भाषा तथा देवनागरी लिपि के साथ निर्दयता का बर्ताव किया गया हो तो मैं इस विषय को इस प्रान्त की कानूनी कौंसिल में पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा। मुझे यह देखकर बड़ा शोक होता है कि बेचारी देवनागरी जिन भारत भूषणों को अपना एक मात्र सहारा समझती है, उनकी सहानुभूति अपनी मातृभाषा के साथ कथन मात्र ही प्रतीत होती है।"

महात्मा मुंशीराम जी के उक्त लेख से यह स्पष्ट है कि न्यायालय में हिन्दी प्रचलित करने हेतु वह कितने प्रयत्नशील और उत्सुक थे। उन्होंने आर्यसमाज के साथ इस दिशा में यथा संभव कार्य किया "राय साहब बाबू मदन मोहन एम. ए. ज ज, पं. विष्णुलाल शर्मा जज और बाबू मुरादीलाल जज ऐसे ही हिन्दी प्रेमी हैं. . .

स्वामी श्रद्धानन्द की प्रेरणा से गुरुकुल के स्नातकों ने हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को, विशेषकर जीवनी, आत्मकथा, यात्रा वृत्तांत आदि को तो पुष्ट किया हा साथ में, शिकार और वन्य भ्रमण की रोमांचक यात्रा कथाएं भी प्रस्तुत की हैं। लेकिन राष्ट्र में नवचेतना जगाने की दृष्टि से दो क्षेत्रों में उनका योगदान बहुत ही सराहनीय

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ. २६०-६१ डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त

सराहनीय रहा है एक, अनुसंधान के क्षेत्र में, दूसरा पत्रकारिता के क्षेत्र में। किसी भी जाति या धर्म की स्वास्थ्य रक्षा के लिए निरंतर खोज करते रहना बहुत आवश्यक है। प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल कांगड़ी में भारत के इतिहास को तथा वैदिक देवताओं और ऋषियों को लेकर काफी काम हुआ। अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके निष्कर्षों तथा स्थापनाओं से सहमत हो पर ऐसा कार्य चिन्तन को धार ही नहीं देता बल्कि कट्टर सिद्धांतवादी होने से भी बचाता है। इसीलिए कभी-कभी तीव्र मतभेद भी उभरे पर मतभेद के पीछे दुर्भावना न हो तो वह स्वास्थ्यकर ही होता है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति स्वामी श्रद्धानन्द की ऐसी अनन्य सक्रिय भक्ति देखकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् १९१३ में उन्हें भागलपुर, विहार में होने वाले अपने चौथे वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने घोषणा की थी—" विदेशी भाषा में विचार उठने से जहाँ सभ्यता विदेशी होगी, वहाँ राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। विना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

दक्षिण में हिन्दी प्रचार का श्रेय गाँधी जी को जाता है। महात्माजी ने सन् १९१८ ई. में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की और दो वर्ष बाद सन् १९२० ई. में स्वामी श्रद्धानन्द ने वैदिक धर्म प्रचार के साथ-साथ हिन्दी भाषा का प्रचार आरम्भ कर दिया। दक्षिण में चारों प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार किया। और अनेक प्रसिद्ध विद्वानों नहीं बल्कि स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सन् १९२४ ई. में मद्रास प्रान्त का दौरा किया और अनेक स्थानों पर व्याख्यान दिए। आर्य प्रचारक तो एक तरह से चारों प्रान्तों में फैल गए और वहाँ के अनेक विद्यार्थी गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने आए, विशेषकर केरल के। जिन्होंने लौट कर अपने प्रान्तों में हिन्दी का बहुत प्रचार किया। यहाँ तक कि श्री श्रद्धानन्द हिन्दी महाविद्यालय कोट्टायन में स्थापित किया। इन आर्य प्रचारकों ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की भी वहुत सहायता की। इसके अतिरिक्त अन्य प्रांतों में भी आर्य प्रचारकों ने हिन्दी का प्रचार किया, विशेपकर पंजाव में। भारतवर्ष में हिन्दी प्रचार का श्रेय जिस प्रकार भारतेन्दु बावू हरिश्चन्द्र और स्वामी दयानन्द सरस्वती को जाता है। इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द का भी योगदान कम नहीं है विशेषकर पंजाव में तो उन्होंने हिन्दी का ही विरुआ रोपा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य, हिन्दी पत्रकारिता और हिन्दी भाषा के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने जो कुछ किया, वह न केवल हर दृष्टि से श्लाघनीय है वरन् अनुकरणीय है।

इसके अतिरिक्त भी स्वामी जी ने विपुल साहित्य की रचना की जिनमें २४ पुस्तकें हिन्दी में (तीन की चर्चा विस्तारपूर्वक हम पीछे कर चुके है) शेष पुस्तकों का उद्देश्य आर्य समाज का प्रचार तथा समाज सुधार है, यह पुस्तकें हमारे विषय की सीमा से वाहर है, उर्दू में अठारह पुस्तकें लिखी है जिनमें महत्त्वपूर्ण है, "मेरी जिन्दगी के नशेवों फराज" यह आत्मकथा का संक्षिप्त रूप है। 'हिन्दू मुस्लिम इत्तहाद की कहानी'। अंग्रेजी में इन्होंने केवल चार कितावें लिखी हैं, इनमे सवसे महत्त्वपूर्ण है, 'इनसाइड कांग्रेस'। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक फुटकर लेख लिखे हैं जो तत्कालीन स्थिति का प्रामाणिक दस्तावेज है। अपने समकालीन कुछ व्यक्तियों के संस्मरण भी लिखे हैं जो वहुत मार्मिक है। स्वामी दयानन्द की चर्चा तो पीछे अनेक बार आ चुकी है श्री गोखले और उनके बीच में पत्र व्यवहार हुआ है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे पूर्व उनसे उनकी जो भेंट हुई उसका वर्णन करते हुए वह लिखते हैं १८९३ ई. से राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में भारत के महान वृद्ध पुरुष दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में जब "श्री गोखले किसी प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए खड़े हुए और पाँच मिनट में ही उन्होंने अपने मत के समर्थन में तथ्यों, आंकड़ों तथा अपने मन्तव्यों का ढ़ेर लगा दिया। जिस समय श्री गोखले बोल रहे थे, भारत का यह महान् वृद्ध पुरुष चुप था। जब गोखले ने अपने कथन को समाप्त किया, तो नौरोजी ने अपना विशिष्ट मत इस प्रकार प्रकट किया–"यह भारत का भावी पुरुष है।"

और जब स्वामी श्रद्धानन्द स्वयं गोखले से जालंधर रेलवे स्टेशन पर मिले तो उस समय के अनुभव को शव्दवद्ध करते हुए स्वामी जी ने कहा है, "हमने प्रतीक्षा-गृह में पूरे छह घंटे तक वहुत रोचक एवं प्रेमपूर्ण वार्तालाप किया। तव ऐसा लगा था कि हम उन सभी तात्कालिक मसलों पर सहमति रखते हैं और हम दोनों के बीच में इतना कुछ समान है जो इससे पहले तक सोचा भी नहीं गया था।"

विशुद्ध सर्जक की दृष्टि से स्वामी श्रद्धानन्द की उपरोक्त विवेचित तीन पुस्तकों, 'कल्याण मार्ग का पथिक,' 'बंदी घर के विचित्र अनुभव' एवं 'आर्य पथिक'। पं. लेखराम में उनकी सर्जना शक्ति का प्रमाण मिल जाता है। स्वामी श्रद्धानन्द की भाषा सहज सरल हिन्दी है जो भावानुरूप ओज, माधुर्य से परिपूर्ण है यद्यपि स्वामीजी की मातृभाषा पंजाबी थी और उर्दू उनके अध्ययन की भाषा किन्तु स्वामीजी की कर्मस्थली तो वना उत्तर प्रदेश। इसलिए भी तथा राजनीतिक आवश्यकता के कारण भी उन्होंने हिन्दी को जो रूप प्रदान किया वह स्वामी दयानन्द सरस्वती की हिन्दी से आगे आकर सहज, स्वाभाविक, हिन्दी है जो जन चेतना का आधार वनी। पंजाब जैसे पंजावी व उर्दू भाषी प्रान्त में हिन्दी प्रसार उनकी सहज-शक्ति के कारण ही सम्भव हो सका था।

अध्याय तीन

चयन

'सुकेत' पहाड़ में एक छोटी-सी रियासत है उसके राजा दुष्ट निकन्दन सेन पर प्रजा की ओर से कई अभियोग चलाए गए। मनुष्य-घात, डाका, लूटमार, सभी प्रकार के दोष प्रजा ने लगाए थे। राजा के चचा मियाँ शिवसिंह रियासत से निकाले हुए चिरकाल से जालंधर में थे, उनके भी घर को राजा ने लूट लिया था। एक लाख का उन्होंने दावा किया था राजा ने कमिश्नर साहब को जज मान लिया और स्वीकार किया कि जो दण्ड वह निश्चित करेंगे राजा सहन करने को तैयार हो जाएंगे तब मिंया शिव सिंह सुकेत बुलाए गए और उन्होने वहाँ पहुँचते ही मुझे अपनी तथा अन्य प्रजा की ओर से वकील नियुक्त कर बुलाने के लिए तार दिया।

सुकेत जाने से पहले मेरे अंदर विचित्र देवासुर संग्राम हो रहा था। २७ पौष संवत १९४७ (११ जनवरी, १८९२) की डायरी में लिखा है-"मैं अपने गत दो वर्षों के जीवन से संतुष्ट नहीं हूँ, यद्यपि मैंने उस बीच में आर्यसमाज की बहुत सेवा की है। मैंने लगभग अकेले ही 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन किया है, वर्णव्यवस्था पर एक ट्रैक्ट लिखा है, कुछ शास्त्रार्थ भी किये और बहुत से व्याख्यान वैदिक धर्म के प्रचारार्थ भी दिए। परन्तु क्या मेरी आत्मिक अवस्था में वास्तविक उन्नति हुई है? हे हमारे मनों को जानने वाले! तू ही जानता है कि इस दिखावे में कैसी अपवित्र चेष्टाएँ छिपी हुई हैं। हे प्राणेश्वर! मुझे बल दो कि मैं धर्म–मार्ग पर चल सकूँ और सत्य पर दृढ़ रहूँ।"

उस समय के लेखों से ज्ञात होता है कि वकालत छोड़ने के लिए हृदय में हलचल मच चुकी थी। १२ जनवरी १८९१ ई. (२८ पौष, १८४७) की डायरी में एक महन्त के दुराचार का हाल लिखकर और संन्यास आश्रम की दुर्व्यवस्था का वर्णन कर लिखा है—"इस प्रकार की घटनाएं जतलाती हैं कि मातृभूमि के पुनरुद्धार के लिए बड़े तपयुक्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता है।" उसी दिन कचहरी में जाने का हाल लिखा है—"बार रूम (वकीलों के कमरे) में वकील भाइयों के साथ इस पेशे के धर्माधर्म विषय में बातचीत हुई। मैं बार बार अपने आत्मा से प्रश्न कर रहा हूं कि वैदिक धर्म की सेवा का व्रत धारण करते हुए क्या मैं वकील रह सकता हूँ। मार्ग क्या है, कौन बतलाएगा? अपने स्वामी परम पिता से ही कल्याण मार्ग पूछना चाहिए। यह

संशयात्मकता ठीक नहीं। अपने देश तथा धर्म की सेवा के लिए पूरा आत्मसमर्पण करना चाहिए। परन्तु परिवार भी एक बड़ी रुकावट है। मैं संदिग्ध अवस्था में हूँ। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिए। कृष्ण भगवान् ने कहा है—"संशयात्मा विनश्यति" पिता! तुम्ही पथ-दर्शक हो"

सुकेत में १७ दिवस

२ माघ संवत् १९४७ (१५ जनवरी, १८९१) की शाम को होशियारपुर पहुँचा ३ माघ (१६ जनवरी) को प्रातः पहाड़ी डोली में सवार होकर चला। रास्ते में बराबर मेंह बरसता रहा। दिन रात कहार बदलते रहे। ५ माघ (१८ जनवरी) को १२ बजे दिन के हटरी स्थान पर पहुँचा। हटरी पर रियासत मंडी का एक कारिन्दा रहता था। उसके मकान पर डोली से उतर कर नई सवारी पर सवार होना था जिसे पालकी कहा जाता था। परन्तु जब वह ढांचा सामने आया तो सिवाय दो बाँस के लट्ठों पर एक छोटी पीढ़ी के और कुछ न था। सचमुच 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' थे। कारिन्दा जी के बालबच्चों में मैंने सारी मिठाई बाँट दी। उस समय सूर्य भगवान यौवनावस्था में उदित थे और मैंने स्नान करके कारिन्दा जी का निमंत्रण स्वीकार किया। बिना धोई छिलके वाली उड़द की दाल और आलुओं के साथ मंडों (फुलकों) का जो स्वाद उस समय आया वह शायद जन्मभर में चार-पाँच बार ही अनुभव किया होगा।

भोजन से निवृत्त होकर पालकी नामिनी पीढ़ी पर सवार हुआ। मिठाई की तीन हंडियों में से एक हंडिया मेरे सामने कारिन्दे ने रख दी। मैंने बहुत इन्कार किया परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मुझे रास्ते का अनुभव है। आपको नहीं, आपके काम आयेगी। हटरी से सीधी चढ़ाई का आरम्भ हो गया। यह सिकन्दर की चढ़ाई कहाती है। मेरा सामान कुलियों की पीठ पर चला। थोड़ी दूर ऊपर चढ़ते ही सारे पहाड़ श्वेत हिम से ढ़के हुए दिखाई देने लगे। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता गया त्यों-त्यों दृश्य सुन्दर होता गया। जहाँ तक कि ऐसी ऊँचाई पर पहँचा जहाँ हिम गिर रहा था। गरम कोट आदि पहन कर ऊपर से मैंने धुस्सा ओढ़ लिया था। मैंने समझा था कि बर्फ की वर्षा के समय सर्दी ज्यादा होगी। लेकिन हालत दूसरी ही नजर आयी। धुस्सा झाड़कर बर्फ को नीचे फेंक दिया और हाथ हांडी की ओर बढ़ाया क्योंकि भूख बहुत चमक उठी थी। बर्फ गिरते में कैसी भूख लगती है यह बिना अनुभव के पता नहीं लग सकता। कहारों के पाँव हिम पर पड़कर उसकी स्वच्छता को बिगड़ते देख मैं सहन न कर सका। यद्यपि मेरे पैर पड़ने से भी हिम की स्वच्छ साफ चादर मैली होती थी परन्तु मेरी दृष्टि से पीछे रह जाती थी। मैंने उस समय पौराणिकों का ही अनुकरण किया और अज्ञान में पाप न समझते हुए मनोरंजक यात्रा की। आध मील पर खड़े होकर मैंने मिठाई के साथ बर्फ मिलाकर खाना आरम्भ किया और सिकन्दरे की चढ़ाई के

शिखर पर पहुँचकर खाली करके हंडिया फोड़ दी। चार बजे उतराई का आरम्भ हुआ। भूख पग पग पर बढ़ रही थी। और खाने को पास कुछ न था। पाँच बजे दूर एक दुकान दिखाई दी। आशा के घोड़े पर सवार हो वहाँ पहुँचा। पहाड़ी दुकानदार के पास पाव भर गुड़ और आधा पाव चनों के सिवाय कुछ न था। उसी पर संतोष कर चने टूँगने शुरू किये और तेज भूख साथ लेकर सुकेत पहुँचा।

कमिश्नर का कैंप ग्राम से बाहर एक मैदान में था वहीं मेरे मुअक्किल मियाँ शिव सिंह का कैम्प था मैं उनको पीछे छोड़ सीधा ग्राम की दूसरी हद पर मियाँ पराक्रम सिंह के यहाँ पहुँचा। वहाँ बाबू दसौन्धीराम तथा लाला गणेश दास वकील मिले जो मुझसे पहले मियाँ शिवसिंह की सहायतार्थ आए हुए थे। मेरे मित्र मियाँ जनमेजय भी मिले। भूखे को भोजन की पहले सूझी और फिर शयन की। इधर नींद के झोंके आ रहे थे और स्थान एकांत न था लाचार फिर से यात्रा आरम्भ कर दी और डेढ़ मील पैदल चलकर सिरहारल पहुँच मियाँ ज्वाला सिंह के मकान में आराम किया। यहाँ शीत बहुत था साथ ही मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे परन्तु फिर भी ९ ॥ बजे सोकर ४ ॥ बजे तक करवट न वदली।

दूसरे दिन प्रातः काल यथा नियम उठकर स्नान किया। जिस कूल के झरने का शब्द रात को लोरियाँ देकर सुना रहा था उसी के शीतल जल से लोटे भर-भर कर स्नान किया पहाड़ के रमणीय जंगल में सन्ध्या की और अग्निहोत्र के समय सुगन्ध के कारण घर के बच्चों के साथ पालतू जानवर भी मेरे साथ आ बैठे। मेरे यजमान मियाँ ज्वालासिंह, मियाँ शिव सिंह के छोटे भाई थे। उन्होंने शीघ्र ही मेरी इच्छानुकूल भोजन तैयार करा दिया और मैं दिन भर के काम के लिए तैयार होकर 'सिंहराल' से चल दिया।

यहाँ एक बार ही लिख देता हूँ कि यद्यपि मुझे नित्य बिखड़े मार्ग में तीन मील से अधिक चलना पड़ता था। परन्तु रात के लिए मैंने निवास-स्थान 'सिहराल' को ही बनाए रखा। दूसरी रात को एक घटना भी ऐसी हुई जो शायद दूसरे आदमी को वहाँ से भगा देती। मेरे कमरे के किवाड़ों के कुछ शीशे टूटे हुए थे। सर्दी रोकने के लिए उन पर कागज़ चिपका रखे थे। मेरे सुकेत पहुँचने की तीसरी रात को, खिड़की के कागज़ को फाड़ बाघ ने अपना पञ्जा अन्दर घुसेड़ दिया और रात भर मेरे पलंग के पाए पर पञ्जा डाले पड़ा रहा। प्रातः उठने पर मैंने देखा कि वह अन्दर की तरफ टकटकी जमाए बैठा है। मैंने डण्डे से उसका पञ्जा बाहर कर दिया और लाठी को जमीन पर मारकर उसे डपट सुनाई। इस पर बाघ गरजता हुआ भाग गया। मुझे बहुत समझाया गया कि मैं अन्दर के मकान में सोया करूँ परन्तु मुझे जाड़े में भी चारों ओर की वायु का मार्ग खोलकर सोने का अभ्यास था। मैं उसी हवादार मकान में सोता रहा।

५ माघ (१८ जनवरी) से लेकर पूरे १७ दिन में सुकेत रहा। इस बीच में जहाँ मियाँ शिवसिंह के मुकद्दमें का मनोरञ्जक काम होता रहा वहाँ साथ ही असाधारण प्राकृतिक तथा मानवी दृश्य भी देखने में आए और साथ ही वैदिक धर्म का प्रचार भी होता रहा।

मेरे साथ जो वकील थे उनमें से एक तो ऐसे शरावी थे कि जब रात को शराब पी लेते तो उनकी बुद्धि बड़ी तेज हो जाती परन्तु प्रातः नशा उतरने पर मुर्दे के समान दिखायी देते। दूसरे महाशय अंग्रेजी का एक भी अक्षर न जानते थे इसलिए कमिश्नर साहब के यहाँ बैरिस्टर रैंगिटन के मुकाबिले उन्हें बैठाना व्यर्थ था। मियाँ शिवसिंह का दावा था कि उनका भण्डार राजा ने लूट लिया। इसका प्रमाण? राजा के अत्याचारों से तंग आयी हुई प्रजा ने मेरे पास पहुँच कर चोरी के माल का पता दिया। मैंने सब मालूम कर कमिश्नर के कुछ स्थानों की तलाशी के लिए वारण्ट माँगे। कमिश्नर साहब ने मियाँ शिवसिंह को बुलाकर कहा कि यदि चोरी का माल कहीं से न निकला तो उन्हें स्वयं जेल भुगतना पड़ेगा। मैंने इस पर एक लिखित प्रार्थना पत्र पेश कर दिया और सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने का वचन दिया। कमिश्नर साहब का आश्चर्य दूर करने को मैंने अपने पास पहुँचे गुप्त प्रमाण भी उन्हें दिखलाए। तब साहब ने उसी समय रिश्तेदार को न बुलवा मुझसे ही वारण्ट लिखवा कर पुलिस वालों को मेरे नियुक्त किये गए आदमियों के साथ भेज दिया। प्रातः १० बजे वारण्ट जारी हुए और शाम के ६ बजे चोरी का माल राजा साहेब की नौकरानियों और अन्य विश्वासपात्रों के घरों से बरामद होकर आने लगा। सबका कहना यही था कि राजा ने यह सामान उनको कुछ दिनों रख छोड़ने के लिए दिया है।

माल तो बरामद हो गया परन्तु फिर भी कुछ स्थानों से दूसरे स्थानों में माल पहुँच ही गया और इसके कारण स्वयं मियाँ शिवसिंह थे। हम सब मियाँ शिवसिंह के भोलेपन को जानते थे। मैंने राजकुमार जनमेजय से तय किया कि मियाँ शिवसिंह पर मैं, वह तथा अन्य कई सज्जन पहिरेदार बैठें और उन्हें किसी से बात न करने दें। मियाँ साहब को भी मैंने समझाया कि वारण्ट लेकर जो पुलिस गयी है। उसका किसी से जिक्र न करें, क्योंकि ऐसा करने से बात फैल जाएगी और अपराधी माल को गायब कर देंगे। मियाँ साहब ने प्रतिज्ञा की कि वह ऐसा न करेंगे। आपने बलपूर्वक कहा कि वह मूर्ख नहीं है कि दुश्मनों को अपनी चाल का पता दें। अब हमारा तो यह प्रयत्न और मियाँ साहब करे नौकरों का यह प्रयत्न कि हमारा प्रोग्राम उनको भी विदित हो जाये। अन्त को विजय नौकरों का हुआ। मियाँ साहब लघुशंका करने गये। एक नौकर लोटा ले हाथ धुलाने दौड़ा, दूसरा एजारबन्द बाँधने लगा तीसरा छाता लगाकर खड़ा हुआ। बस हाथ धुलाते धुलाते सब कहानी मियाँ साहब से पूछ ली और अपने

साथियों को बताने लगे। सुनने वालों में कोई विश्वासघाती भी था, उसने राजा को समाचार पहुँचाया। राजा ने आदमी दौड़ाए, परन्तु तब तक पुलिस बहुत काम कर चुकी थी।

मुकदमें की पैरवी तो कोई बड़ी बात न थी परन्तु मियाँ शिवसिंह से मुकदमें की रक्षा करना ही सबसे कठिन काम था।

जवनिका-पतन

सुकेत का हाल है तो बड़ा मनोरञ्जक परन्तु उसको विस्तारपूर्वक लिखने के लिए स्थान नहीं है। राजा को रैंगिटन साहब बैरिस्टर ने खूब लूटा। पहिले १०००) रोजाना फीस पर आए। जब मियाँ शिवसिंह की चोरी का माल बरामद हुआ तो लाहौर से तार आया बतला कर चोरी के अभियोग की पैरवी के दिनों के लिए १६००) प्रतिदिन लेने आरम्भ किये। १००) रोजाना भोजन के लिए अलग लेते, और भोजन, राज के पुराने प्रबन्धकर्त्ता डानल्ट साहब के यहाँ करते'। फीस बढ़वा ली परन्तु ७ दिन अधिक फीस लेकर मुकद्दमा लड़ाने के स्थान में ६०,००० रुपये मियाँ शिवसिंह को दिलवा दिए। मियाँ शिवसिंह ने दो लाख रुपए की चोरी दिखवायी थी इसमें ४०,००० रुपये की तो दवाइयां थी जो बिना मूल्य बंटवायी जाती थीं और शेष वस्तुएं भी उन्होंने बड़ी महंगी खरीदी थी। उनके के लिए ६०,००० रुपये एक अच्छी सम्पत्ति थी, परन्तु मियाँ साहब के पास वह रुपया जमने वाला न था।

ऊपर का फ़ैसला होते ही मैं चलना चाहता था। परन्तु मियाँ शिवसिंह के सम्बन्धियों ने आग्रह किया कि मैं मियाँ साहब को रुपये नगद दिलवा कर जाऊं। तब मैं रुपये गिंनवाने के काम का निरीक्षक बना। वहाँ भी बड़ा काम करना पड़ा। राजा साहब से खोटे रुपये बदलवाने का काम बड़ा कठिन था। परन्तु वह काम भी समाप्त हो गया, और राजा साहब मण्डी के निमन्त्रण पर मैं दोनों सहकारी वकीलों सहित मण्डी को चल दिया। राजा साहब से भेंट हुई। मुझे देखते ही उन्हें जालन्धर वाला शास्त्रार्थ याद आ गया जो उन्होंने आर्य तथा सनातनी पण्डितों के बीच कराया था। तब तो आर्य समाज की ही बातें होती रही और मुझे अपने धर्म प्रचार का बड़ा अच्छा मौका मिला। यहाँ पर मैंने पहिले पहल पहाड़ी रियासतों के कैदियों की विचित्र व्यवस्था देखी। प्रातः काल ही जेल का द्वार खुलता और सब कैदियों को घास लाने आदि के कई काम सौंप कर छोड़ दिया जाता। सांयकाल को सब अपना काम खत्म कर जेल में आ सो जाते। मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया तो अहलकारों ने बताया कि कभी कोई कैदी नहीं भागा क्योंकि इन लोगों को अपनी मातृभूमि से बड़ा प्रेम है।

इसी स्थान में एक शिव-मन्दिर मुझे दिखाया गया जिसमें से शिवलिंग को

उखड़वा दिया गया था। पुजारी ने मन्दिर इस बुद्धिमता से बनवाया था कि मन्दिर की छत की ऊपर की खोल में से आदमी गुम्बद के छिद्रों द्वारा दूध छिड़क सके। यह दूध का छिड़काव बड़े बहुमूल्य चढ़ावे से होता था। राव, रंक पुजारी की जाल में पागल हो फंस गये। मुझे बताया गया कि वैण्डथ साहब कमिश्नर ने इस मन्दिर की पोल का पता लगाया और राजा साहब ने उनकी आज्ञानुसार उसमें से शिव की मूर्ति को उखड़वा दिया। मण्डी से हम सब वकील डोलियों में लौट पड़े। पहिली रात इकट्ठे काटी। शेष दोनों वकीलों ने प्रातः वर्षा का ढंग देखते ही खूब पीली। एक स्थान में ओले बरसने लगे। जिसके कारण हमने डोलियां रखवा दी। मैंने तो कहारों को बतलाकर अपनी डोली ऊँचे स्थान में रखवायी और शराबियों को डोली को नीची जगह छोड़कर उनके कहार दूर छते हुए स्थान में जा बैठे। जब मूसलाधार पड़ने लगी तो विचारे शराबी वकीलों ने प्याले से हाथ हटाकर शोर मचाया—भीग गये। भीग गये।! ओ! कहारो! जल्दी डोली उठाओ।' जितनी ही शराबी वकील डांट बतलाते उतना ही कहार औ हँसते। इनकी धमकी की परवाह कहारों को कुछ भी न थी। इनकी हालत पर मुझे रहम आया और मैंने छाता लेकर डोली से बाहर पैर रखा। बस फिर क्या था—सब कहार दौड़कर डोलियों को लग गये और मूसलाधार बारिश में ही आगे बढ़ने लगे। रात को फिर बड़ी गड़बड़ हुई। वर्षा बन्द होते ही मैं पैदल हो लिया था और दस मील चढ़ाई उतराई का भुगतान कर ऊँची चढ़ाई पर डाक बंगले में जा पहुँचा और जो उनके बाद गाढ़ निद्रा की गोद में विश्राम लेने का विचार था कि शराबियों की डोलियाँ आधी रात के वक्त पहुँची। उनमें एक महाशय पीठ के फोड़े से बीमार थे। उन्होंने रास्ते में कहारों को बहुत गालियाँ दी और तंग किया। इस अन्तिम चढ़ाई पर कहारों के पैर फिसल जाने से डोली गिरी और शराबी वकील की पीठ का फोड़ा फूट गया। हम सब तो उनका दुःख दूर करने की चिन्ता में थे और उन्हें यह शक कि कहारों ने उन्हें जान बूझकर गिरा दिया है। इसलिए उन्होंने कहारों को कोसते हुए, लगभग संसार भरके सब गन्दे शब्द फुलझड़ी की तरह कहारों पर बरसा दिये। अन्त में ज्यों त्यों करके उन्हें कुछ खिलाने का यत्न किया गया, तब शराब की बोतल खोल बैठे। मैं उन्हें छोड़ चारपाई पर दूर लेट गया। दो पेग (शराब के गिलास) और चढ़ाकर वकील साहब के सिर पर यह धुन सवार हुई कि मैं उनके मद्य पान को देख नाखुश हो गया हूँ। उनके मुन्शी ने यह कह दिया—"वह धर्मात्मा आदमी हैं, आपके पास क्या बैठते—जहाँ हमेशा मद्य का दुर्गन्ध उठता रहता है।" मैं तो गाढ़ निद्रा में बैठा जा रहा था, उधर शोर मचा। वकील साहब के साथी हिलने से मना करते, और वह मेरे पास पहुँचने के लिए हाथ पैर मारते। कहाँ नींद कहाँ का सोना। मैं वहाँ से उठ पलंग पर जा बैठा और कह दिया कि मैं नाखुश नहीं हूँ—लेकिन इससे भी छुटकारा न हुआ। मेरे पैरों को ऊपर खींच शराबी वकील बड़बड़ाने लगा— "आप

धर्मात्मा हैं, आप तो ऐसा कहेंगे ही, परन्तु मैं पापी हूँ। क्षमा करो।" —इत्यादि। मैंने समझाया, दिलासा दिया, परन्तु वहाँ कौन सुनता था। यही क्रम एक घण्टे तक लगा रहा, तब मुझे वहाँ कुछ कहने का मौका मिला। वहाँ श्रद्धा का प्रवाह था, सोने को कहा, तो आज्ञा पालन की गयी। उस समय जो करुणा और प्रेम का भाव मेरे अन्दर काम कर रहा था उसका फिर कम ही प्रादुर्भाव हुआ है।

दूसरे दिन दोपहर अपने साथियों से बिछुड़ होशियारपुर सायंकाल पहुंचा और तीसरे दिन जालन्धर पहुँच परिवार को मिल निश्चिन्त हुआ।

अमृतसर जेल में पहली रात

जेलर अपने मकान के अन्दर थे। मैंने उनके भृत्य से जल लेकर हाथ-पैर धोए। उसने आसान बिछा दिया और मैं संध्या के लिए बैठ गया। इन्स्पेक्टरों के पास कोई वारंट न था, इसलिए जेलर ने किसी अंग्रेज अफसर के साथ टेलीफोन द्वारा बातचीत की और मेरे लिए जेल का संगीन दरवाजा खोल दिया। पुलिस इन्स्पेक्टर रसीद लेकर चले गए और मुझे ले जाकर एक दो मंजिला वार्ड की निचली मंजिल के पहले पिंजरे में बंद कर दिया गया। उस समय रात के ८.१५ बज चुके थे। कोठरी लगभग १२ फीट लंबी और ८ फीट चौड़ी थी। एक ओर दीवार के साथ लगा हुआ डेढ़ बीता ऊँचा, तीन फीट चौड़ा और पौने छह फीट लंबा, मिट्टी का चबूतरा था; उस पर एक टाट बिछा था। दो कंबल पड़े थे जिनमें से एक को लपेट कर सिराहना बना लिया और अपना कुर्ता लपेट कर उसी पर धर लिया। दूसरा कंबल टाट पर बिछा कर लेटने को ही था कि ऊपर से किसी सभ्य ने पूछा कि कौन आया है? मेरा नाम सुनकर एक लंबे खालसा जी उतर आये जिन्होंने एक गिलास और एक पंखी दे दी। मैंने उन्हें कुछ पहचाना। जब गुरु के जंडियाले में गया था उस समय वह मुझे मिले थे। जंडियाले से जो छह कांग्रेस के कारकुन पकड़े गये थे, उनमें वह भी आये थे, और एक वर्ष की कड़ी कैद का हुक्म इनके लिए लग चुका था। उन्होंने बतलाया कि छह में से चार हिन्दू मुसलमान क्षमा माँग कर चले गए, एक जैनी डगमगाया हुआ है, परन्तु खालसा जी दृढ़ हैं।

इतने में पानी की घड़ी भी आगयी और नंबरदार कोठरी का ताला ठोक कर चला गया। गर्मी उस रात बहुत थी। मैं पंखा हाथ में लिए लेटा हुआ था। दस-ग्यारह बजे फिर कोठरी खुली, लालटेन भी साथ आयी। मेरा थैला और बिस्तर भी आ गया, परन्तु बिस्तर की सुतली उतार कर जेलर साहब ले गए। कैदी के पास किसी प्रकार की भी, सुतली या डोर नहीं रहने पाती। एक तो शायद यह भय कि रस्सी बांधकर बीस या बाईस फीट ऊँची दीवार न फांद जाए और दूसरा भय यह कि गले में डालकर

आत्मघात न कर लें।

रात भर पंखा झलते व्यतीत हुई। कोई हमदर्द न था। कोई पहरे वाला हर घंटे पीछे बोलता है, 'बोल जवान, बोल जवान'। यदि कोई न बोला तो उसको गाली से खबर लेकर बुलाया जाता। मैं हर बार पहली हांक पर ही उत्तर देता। पहरे वाला बोलता तो सब ओर से नंबरदार चिल्ला उठते–'सब अच्छा'। अन्दर ही शौच के लिए बर्तन रखा था; अन्दर ही मिट्टी का लोटा लघुशंका (पेशाव) के लिए ; यह नया अनुभव भी लिया शौच होकर पास रखी मिट्टी ऊपर डालदी, लोटे में लघुशंका की। हाथ धोकर शुद्ध मिट्टी से अपना जलपात्र मांजा और फिर हाथ धोकर बैठ गया। ५.३० बजे नंबरदार, 'उठ जवान, बुहारी लगा।' सब कमरों के सामने यही हाँक लगाता हुआ घूम गया। बुहारी अन्दर पड़ी थी। मैंने बुहारी भी लगा डाली। तब हमारे अफसर नंबरदार ने दरवाजे खोल दिए। और कैदी तो चीलों की तरह पाखाने पर जा पड़े और मैंने नलके पर जाकर हाथ और पैर धोये। फिर मैं तेल मलने कमरे में चला गया। और स्नान करके लौटा तो भंगी पाखाना-पेशाब उठा ले गया। तब मैंने बाहर निकल कर सूर्य भगवान के दर्शन किये और अकाली नेताओं से मिला।

क्वारण्टीन (Quarantine) गृह का वर्णन

जिस गृह की निचली कोठरी में मैंने रात काटी, उसका नाम कारण्टीन है। सत्रह पिंजरेनुमा कोठरियां नीचे और इतनी ही ऊपर हैं। उससे आठ-दस कदम की दूरी पर जेल की पिछली बड़ी दीवार है। कारण्टीन के ठीक मध्य, इमारत और दीवार के ठीक बीचों-बीच पाखाना है। पाँच बजे पिंजरे खुलने की घंटी बजी और पौने छह बजे रोटी बाँटने की। पाखाने में केवल छह आदमियों के लिए पीठ से पीठ से जुड़ी हुई, बैठने की जगह, ईंटों की खड्डी भी नदारद और पर्दा ऐसा, जैसा भंग पीने वाले पुत्र ने पिता की आंख बचाने के लिए तिनके का कर लिया था। इस पाखाने में ३५ कारण्टीन के और ५२ छौलदारियों वाले कैदियों को निवृत्त होना होता था। फिर दो-तीन नंबरदारों और उतने ही चपरासियों का भी इसी पर निर्वाह था। नहाने का उस समय नाम लेना भी कैदी के लिए पाप था। घंटी बजी और अपना-अपना लोहे का दो-ढाई आने मूल्य वाला (दरोगा जी ने यही मूल्य बतलाया था), बाटा हाथ में लिए कैदी पंक्ति में उकडूं बैठने लग गये। कोई भाई अभी पाखाने बैठा ही था कि एक पठान नंबरदार ने पकड़कर उसे गर्दनियां दी। वह करीब आबदस्त लेकर ही पंक्ति में बिना बाटे के बैठ गया और उस अधकच्ची रोटी पर ही दाल डलवाकर खाने लगा। यदि उस समय इस उत्तम भोजन को खाना न करे तो दिन भर भूखा रहे और घेलुए (पंजाबी रुंगे) उसे शायद पांच सात दिन के लिए डंडा-बेड़ी भुगतनी पड़े।

हवालाती (पोलिटिकल) कैदियों को ऊपर की मंजिल में रखा हुआ था। सुपरिण्टेंण्ड मि. जेन्किङ्ग असिस्टेन्ट ८ बजे आया। जेलर ने उनसे पूछकर मुझे ऊपरवाली मंजिल में जाने की आज्ञा दी। वहाँ शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी का मानो कार्यालय ही था। सरदार महताबसिंह बैरिस्टर प्रधान, डिपुटी प्रेसिडेण्ट पंजाब कांउसिल, सरदार भागसिंह बी.ए एल. एल. बी. सरदार नारायण मन्त्री, सरदार खेलसिंह, सरदार मुकन्दसिंह, सरदार तेजसिंह लड़काना-निवासी तथा सरदार तेजसिंह अकालियों के जनरल और सेनाध्यक्ष, सरदार उमरावसिंह जिला-मंत्री खालसा लीग और सबसे बढ़कर खालसा पंथ के माननीय वृद्ध बाबा केहर सिंह पट्टी वाले और अन्य थे। सरदार महेन्द्र गोपाल और लाला रत्नचन्द्र कांग्रेस के प्रचार में पकड़े आये थे जिनमें से खालसा जी तो एक साल की कैद आनन्द से भुगते रहे थे, परन्तु रत्न चन्द्र जी उसी दिन पेशी के लिए जो गए तो क्षमा प्रार्थना करके चंपत हुए और मुझे न मिले और उन्हीं के खाली किये हुए पिंजरे में मुझे स्थान दिया गया। ऊपर की कोठरी-बैरक के आगे साढ़े चार फीट लकड़ी का बर्रामदा है जिसमें सब रात को सोते थे। नीचे से ऊपर तक इतना भेद था कि हमारे दरवाजे दिन रात खुले रहते थे। हाँ, दो बंदिशें थी–एक तो जब आठ और नौ बजे के बीच में सुपरिण्टेन्डेण्ट आता तो दस-पन्द्रह मिनट पहले ही हम सब को पिंजरे में बंद कर दिया जाता। सुपरिन्टेडेण्ट साहब खटखट करते, कवायद की चाल बरामदे में नाक की सीध पर देखते अपना लाव-लश्करसहित एक मिनट में गुजर जाते। लश्कर उनका क्या था? उनके पीछे जेलर, फिर जमादार, वार्ड के चपरासी नंबरदार क्रमानुसार बूट खटखटाते, एक सीढ़ी चढ़ते और दूसरी सीढ़ी उतर जाते। यदि किसी हवालाती को कुछ कहना हुआ तो दो तीन मिनट और लग गए।

दूसरी बंदिश यह थी कि जब साधारण कैदियों को खिला-पिला करके 'सब अच्छा' की घंटी (जुदा-जुदा तीन टकोर) बजती, उससे पीछे हम लोग नीचे न रह सकते और प्रातःकाल ४ बजे से पहले नीचे नहीं उतर सकते थे।

सब-जेल का पूरा नक्शा

अमृतसर का जेल सब अर्थात् छोटा है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी ही है, जितना मियाँवाली जेल में ४५ विशेष राजनैतिक कैदियों के लिए अहाता। अमृतसर में उतनी ही डेढ़ व सवा बीघे जमीन के अंदर २४६ क्यारियों की जगह है और मेरे सामने जब अकाली दल की चढ़ाई हुई तो ५५० तक एक समय में नई छोलदारियां लगीं और बीस के स्थान में ४० व ४५ घुसेड़कर रखे गए। जब संख्या और बढ़ गई तो चार-पाँच सौ गोविन्दगढ़ के किले में रखकर भोजन नौ सौ से एक हजार तक का उतने ही लांगरी (पाचक) उसी १८ फीट लम्बी और १४ फीट चौड़ी कोठरी में (जिसकी खिड़कियों और रोशनदानों में भी जाली लगी हुई है) दाल-रोटी प्रातः और शाक-रोटी

सांयकाल बनाते थे।

जेल का दोहरा दरवाजा मजबूत लोहे का बना है। दोनों दरवाजों के मध्य में एक डेवढ़ी है जहां जेल का संत पितरस (कुंजी-बरदार) इधर उधर चक्कर लगाया करता है। जेल के अफसरों के लिए वड़ा दरवाजा खोल देता है, परन्तु कैदियों के लिए छोटी खिड़की ही खोली जाती है। संत पितरस (Saint peter) तो वारण्ट-दाखिला देखकर स्वर्ग की कुंजी खोलता है; जेल का पितरस वारण्ट खार्जिया देखकर बाहर भी निकाल देता है।

डेवढ़ी में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर जेलर का आफिस (दफ्तर) है और बाई ओर के कमरे में एक मेज-कुर्सी पड़ी रहती है, जिसपर बैठकर साहब सुपरिण्टेण्डेण्ट हस्ताक्षर आदि का काम करते है। अन्दर घुसते ही दाहिनी ओर एक दो मंजिला बैरिक है, आगे वढ़कर फिर दुमंजिला बैरिक और वस्तु-भण्डार (Store) इत्यादि। बाई ओर रसोईघर, बुड्ढ़ीघर अर्थात् स्त्री कैदियों के लिए चार कोठरियां और वंद आंगन, छोटा-सा हस्पताल और बस। छोलदारियों की भरमार ने निकलना-पैठना कठिन कर छोड़ा था।

पाखाने-पेशाब का प्रबन्ध

बहुत ही खराब और मनुष्यों को पशु बनाने और निर्लज्जों को भी बेशर्मी की पराकाष्ठा पर पहुंचानेवाला है। पाखाने का वर्णन मैं कर चुका हूँ। ऊपरवाली मंजिल की बीचवाली कोठरियों वाले दो घंटों तक ताक नहीं सम्भाल सकते थे और नीचे एक खुड्डी का दूसरे से नाममात्र का पर्दा और बाहर से तो सर्वथा अरक्षित खुड्डियों पर बैठना भी मुश्किल। पेशाव के लिए मिट्टी के लोटे रखे हुए परन्तु उनमें पेशाब छोड़ने के लिए वैज्ञानिक शिक्षा (Scientific Training) की जरूरत और केवल पेशाव करने के लिए लोहे के खुले ढोल रखे हुए जिनमें जेल-सृष्टि के सामने खड़े होकर पेशाव करना पड़ता। यदि जरा चूका तो नम्बरदार ने पीछे से लात ठोक दी, और नम्बरदार बेचारा भी क्या करे, यदि कोई चपरासी व जमादार देख ले तो नम्बरदार की पेशी कर दे और उसे भी दण्ड मिल जाए। जो दण्ड जेल में मिलते हैं उनकी तो समाचार पत्रों में काफी छानबीन हो चुकी है।

जेलर गरीव को तो पूछता ही कौन है! एक पले हुए मोटे-ताज़े बीबे खत्री राय साहब दर्शक (visitor) नियत थे। उनका ध्यान मैंने इस ओर खींचा और साथ यह भी बतलाया कि जिस पानी की भरी हुई नाली पर बैठकर कैदियों को इकट्ठे आवदस्त लेना पड़ता है उससे संचारी रोगों के फैलने का डर है तो उत्तर मिला, "मैंने दो बार रिपोर्ट की, परन्तु कोई सुनता नहीं।" मैंने कहा, "आप तो कैदियों के दुख दूर कराने लिए नियत हो। यदि कोई सुनता नहीं तो त्यागपत्र दे दो।" बोले, "आप सुपरिण्टेण्डेण्ट

को कहो।" ठीक उत्तर मिला। ऊपर से तो विजिटर साहब हमारे दर्द पूछने आते, परन्तु असल मतलब और ही था। आप जब आते तो ब्रिटिश सरकार की हुकूमत की प्रशंसा करके सरदार महताब सिंह जैसे दृढ़-संकल्प, धर्मप्रिय सज्जन तक को अंग्रेज़ों के साथ झुककर भी राजीनामा करने की प्रेरणा करते और इधर की उधर लगाने का शुभ कार्य करते। इन्होंने सी. आई. डी. का इतना जबरदस्त काम किया होगा कि अब रायबहादुरी के अधिकारी हो चुके।

कारावास में सबसे पहले आत्मकथा लिखी

अमृतसर जेल के सुपरिंटेंडेण्ट मिस्टर जेनकिंज ने वहाँ के जेलर द्वारा मुझे अपने जीवन की घटनाएं लिखने की इजाजत दे दी थी। मैंने १० पृष्ठ फुलस्केप कागज़ काले भी कर छोड़े थे। मियाँवाली में उन पृष्ठों को पढ़कर कुछ दिन पीछे आज्ञा मिली। परन्तु जब मैंने १२० पृष्ठ लिखकर पहले साथ लाए कागजों को समाप्त किया और अपने व्यय पर विशेष कागज़ मांगे तो उस समय न मिले, जब तक मेरा पूर्व का लेख देखने को माँग लिया गया। उसमें सन् १८८४ ई. तक की घटनाएं देखकर (जब नेशनल कांग्रेस की बुनियाद भी न पड़ी थी) उन्होंने फिर एक दस्ता कागज़ दिया और यदि मैं उसके चार पाँच दिन पीछे ही न छूट जाता तो फिर भी बिना उन कागज़ों पर लिखे लेख देखे वह मुझे और कागज़ न देता। मैंने सुना है कि डाक्टर रामजीदास के अतिरिक्त तीन और हिन्दुस्तानी सुपरिंटेंडेण्ट हैं जो राजनैतिक बन्दियों पर सख्ती न करने के कारण गवर्नमेंट की आँखों में खटकते हैं।

जेल-मैनुअल केवल दिखावा है

जब कभी जेल के अत्याचारों का जिक्र समाचार पत्रों में आता है तो गवर्नमेंट उत्तर में जेल मैनुअल का हवाला देती है, परन्तु क्या जेल कानून पर अमल होता है? उदाहरणों से मालूम होगा कि कानून केवल दिखावा है।

जेल-मैनुअल के वाक्य १४३ (२) में लिखा है कि कोई जेल अफसर किसी कैदी को सम्बोधन करते हुए सख्त, बदजुबान, अपमान युक्त व अनावश्यक प्रकार से छेड़ने वाली भाषा का प्रयोग न करें। और न हरेक कैदी के साथ कुशल, शील, मनुष्यत्व और दृढ़ निष्पक्षपात का व्यवहार करेगा। परन्तु मैंने देखा कि साधारण कैदियों के साथ इसके विरुद्ध वर्ताव होता है। काले वस्त्रों वाले कैदी अन्यों के साथ और पीले लम्बरदार उनके साथ भी बड़ा बुरा वर्ताव करते हैं। रिश्वत का बाजार गरम रहता है। जो पैसे खर्चे, वह जेल में आनन्द उड़ाता है। जो निर्धन है उसके लिए जेल जहन्नुम हो जाता है। वाक्य १४४ में कैदी को मारने की मनाही है। यहाँ तक लिखा है कि किसी बहाने से भी न मारना चाहिए। परन्तु यहाँ बहाना क्या? अमृतसर जेल में देखा

कि यदि किसी कैदी को कुछ समझाना भी हो तो गर्दनियां और लात-घूंसा मारके ही चपरासी और लम्बरदार उसे समझाते थे।

वाक्य ९४५ में भोजन की सफाई और पकाने की उत्तमता पर बल दिया है। जली-कच्ची रोटी की सख्त मनाही की है। वर्तनों को साफ रखने की हिदायत है। परन्तु मियाँवाली-से सर्वोत्तम जेल में भी बर्तनों की सफाई का पूरा प्रवन्ध नहीं, और भोजन की सफाई का जो हाल अमृतसर जेल में देखा वह पहले वर्णन कर चुका हूँ।

आगे चलकर यह भी हिदायत है कि खराब मौसम में छत के नीचे बैठाकर खिलाने का प्रवन्ध करना चाहिए, परन्तु इसके लिए उचित प्रवन्ध नहीं है। साधारण कैदियों को धूप, वर्षा तथा सर्दी से वचाव का प्रबन्ध पूरा नहीं है। मियाँवाली जेल पोलिटिकल कैदियों के लिए सबसे उत्तम समझा जाता है। जहाँ जाड़ा सख्त होता है परन्तु नलके पर नहाने के लिए कोई पर्दा नहीं है। तीन बैरिकों के कैदियों के लिए वर्षा ऋतु में भोजन करने के लिए कोई अलग कमरा नहीं है। . . . .

सुपरिंटेंडेण्ट होते हुए भी जब ऊपर के आफ़िसर तैयार न हों तो अच्छे से अच्छे कानून धरे ही रह जाते हैं। मेरा यह मतलब नहीं है पोलिटिकल कैदी सुखी जीवन व्यतीत करें। सहन करने के लिए तो वे जेल को स्वराज्याश्रम कहकर आलिंगन करते ही हैं और जितना अत्याचार उन पर होगा उतना ही नौकरशाही गर्वनमेंट के पंजे से रिहाई की इच्छा उनके हृदयों में दृढ़ होगी। परन्तु यह सूर्य के प्रकाश की तरह प्रसिद्ध हो जाना चाहिए कि यहाँ हाथी के दांत खाने के और तथा दिखाने के और हैं।

यद्यपि मैंने केवल अमृतसर सब-जेल और मियाँवाली जेल में ही निवास किया जहाँ बुरा सलूक नहीं हुआ, परन्तु जो भाई अन्य जेलों को भुगत आए उनकी जबानी जो घटनाएं सुनी गईं और जो कुछ व्यंग्यपूर्ण प्रश्न (Cross Questions) करके उनसे अधिक जाना गया, उससे मैंने यही परिणाम निकाला कि यद्यपि बहुत सी जेलों में अत्याचार होते हैं परन्तु उनसे दुख उन्हीं को होता है जो महात्मा गाँधी की कांग्रेस द्वारा सम्पादित इस प्रतिज्ञा को भूल जाते हैं कि जितना भी हम निरपराध होते हुए अत्याचारों को सहन करेंगे उतना स्वराज्य हमारे समीप आवेगा। ऐसे अत्याचारों पर कांग्रेस से बाहर के व्याख्यानदाता जो चाहें टिप्पणीं चढ़ावें, परन्तु शान्तमय (अदम-तशद्दुद=Non-violence) के विषय में भी ऐसे विचार मैने मियाँवाली जेल के कुछ राजनैतिक कैदियों से सुने, आपस के घी वाले झगड़े के पीछे बाबा गुरुदत्तसिंह, लद्धासिंह और पीरजादा अताउल्लाशाह की पंचायत ने अपराधियों को परस्पर क्षमा-प्रार्थना करने और शान्ति स्थापना करने के लिए बुलाया। मेरी कोठरी सामने पास ही थी और

मैं सुन रहा था। एक सिख कैदी जो अकाली तहरीक से पहले जेल में थे, इस बात पर अड़े रहे कि जिसने उन पर आक्रमण किया है, उसको वह भी पुनः अवसर आने पर अवश्य ठोकेंगे। बाबा जी ने इन्हें कांग्रेस और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की आज्ञाओं की याद दिला ऐसा विचार मन से निकालने के लिए अपील की। उनका उत्तर था—खालसा वीर बोले, "शान्तमयी का मतलब—नौकरशाही की पुलिस चाहे जूते लाठी मारे चाहे. . ."

अस्पृश्यता प्रगति में बाधक है — स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सन् १९२४ में "हिन्दू संगठन" नाम से एक पुस्तिका लिखी थी। प्रस्तुत लेख इसी पुस्तिका का अंश है। अस्पृश्यता की समस्या आज भी उतने ही ज्वलन्त रूप में विद्यमान है, जितनी कि उस समय थी। अतः इस लेख का वर्तमान में भी समान महत्त्व है, जब कि देश के कोने-कोने से हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन की घटनाएं प्रायः रोज सुनने में आ रही है।

हिन्दुओं में अस्पृश्यता का अभिशाप उनके सम्मान पर एक बट्टा है और उनके इस पाप का दुष्परिणाम सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र भुगत रहा है। जब कभी हमारे राजनीतिक नेता स्वराज्य की मांग पेश करते हैं तो उनके सामने उनके पापों को रखकर उनका मुंह बन्द कर दिया जाता है। जो लोग अपने ही समाज के एक तिहाई लोगों को गुलाम बनाए हुए हों और उन्हें पैरों तले कुचल रहे हों, उन्हें विदेशियों द्वारा किये गए अत्याचारों के विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये अस्पृश्य अथवा अछूत कौन है? क्या वे दक्षिणी अफ्रीका के जुलु लोगों के देश से आये थे अथवा नरक की जलती हुई अग्नि में से बाहर धकेल दिये गए थे? कम से कम वे स्वर्ग से नहीं ही गिराए गए, वह तो उनकी अवस्था से भली-भाँति प्रकट है। यदि थोड़े धैर्य से और पक्षपातशून्य होकर खोज की जाये तो यह अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि अछूतों के और तो और भंगियों और धेड़ों के भी—गोत्र वही है। जो तीन उच्चवर्गी कहे जाने वाले सवर्ण हिन्दुओं के हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इनका भी मूल उद्‌गम स्थान वही है जहां से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रकट हुए हैं। बहुत सम्भवतः उनके नैतिक पतन के कारण उन्हें सामाजिक दृष्टि से भी निम्न वर्ग में धकेल दिया गया। यदि वे रहन सहन को सुधार लेते हैं और नैतिक दृष्टि से ऊपर उठने लगते हैं तो उन्हें अपनी पुरानी स्थिति प्राप्त करने से कोई नहीं रोक सकता। यह एक सीधा-सादा सत्य है जिसकी हिन्दुओं ने शताब्दियों से उपेक्षा की है। महाप्रभु चैतन्य, कबीर, नानक, दादू, गुरुगोविन्द तथा कुछ अन्य सुधारकों ने हिन्दुओं के इस पाप के विरुद्ध आवाज उठाई किन्तु उनकी

वाणियां बहरे कानों में पड़ी। तब एक बाल ब्रह्मचारी का प्रादुर्भाव हुआ और उसने गुंजायमान शब्दों से हिन्दुओं में कर्तव्य की भावना उत्पन्न की और सम्पूर्ण आर्य जगत की हड्डियों तक को कंपा दिया। यह सुधारक था महर्षि दयानन्द सरस्वती। प्रत्येक मनुष्य के समानाधिकार का दावा किया और समाज को गुण कर्म के अनुसार चार वर्णों में विभाजित करने की आवाज उठाई। जब यह महान आचार्य कार्य क्षेत्र में उतरा तब हिन्दुत्व धारा प्रवाह रूप में ईयासत में विलीन होता चला जा रहा था। उसने एक बुलन्द और आध्यात्मिक आवाज में रुकने का आदेश दिया और प्रवाहित होती धारा एकदम रुक गयी। पथभ्रष्ट लोगों को पथ का निर्देश किया, देहरादून के मुंशी मुहम्मद उमर को पुनः ग्रहण करके अलखधारी नाम रखा। इसके बाद तो उन सैकड़ों हिन्दुओं का—जो कि लालच आदि द्वारा सार्वजनिक वैदिक अक्षय वृक्ष की छाया से दूर हटा दिये थे–पुनः आर्य धर्म में खींच लिया।

परिणामतः उच्च वर्ग के हिन्दुओं का विरोधी धर्मों में प्रवेश एक भूतकालीन वस्तु हो गई। जब महर्षि दयानन्द ब्रह्मधाम को प्रस्थान कर गए तब आर्य समाज ने अपने आचार्य के काम को उठाया। तब ईसाई मिशन के दुराग्रही हिन्दुओं द्वारा पीड़ित अछूत वर्ग को पॉल के धर्म में परिवर्तित करने को सोचा। यह एक सरल और सीधा-साधा कार्य था। एक बार रामचरण चमार की चोटी कटी, उसके माथे पर पानी से क्रास के चिन्ह बनाए गए, उसने गोमाँस खाना शुरू कर दिया, उसका नाम पीटर जान अथवा पॉल रख दिया गया, उसे उसी कालीन पर बैठने का अधिकार प्राप्त हो गया, उसी कुएँ से पानी खींचने का अधिकार मिल गया जिनका उपयोग सवर्ण हिन्दू करते हैं और तो और वह ब्राह्मणों से हाथ भी मिलाने लगा। चमार, धेड़, डोम और पारसी हजारों की संख्या में ईसाइयत को अपनाने लगे। तब इस समस्या की ओर आर्य समाज का ध्यान आकृष्ट हुआ और आर्य समाज ने इन पथभ्रष्ट लोगों को इनके पथ पर लाना शुरु किया तथा आर्य समाजियों ने लोगों को प्रश्रय और अभय देना, अपने धर्म को छोड़कर जाने वाले दलितों को शुद्ध करना आरम्भ कर दिया।

इस शुद्धि आन्दोलन का कट्टर हिन्दुओं द्वारा प्रबल विरोध किए जाने के कारण यह प्रतीत होने लगा कि अछूतोद्धर का कार्य लगभग असम्भव हो जाएगा। परन्तु आर्य समाज ने हल पर अपना दृढ़ हाथ रखकर भूमि को सुधार के बीज बोये जा सकने योग्य बनाना नहीं छोड़ा सबसे प्रथम रहतियों की सामूहिक शुद्धि की गई। यह सिखों का एक वर्ग था, परन्तु खालसा लोग भी इन्हें अपने साथ दरी पर बैठने का अधिकार नहीं देते थे। सिख धर्म के संस्थापक श्री गुरु गोविन्द सिंह ने स्वयं इस वर्ग को 'कृपाण' द्वारा तैयार अमृत पिलाकर सिख धर्म में दीक्षित किया था। सन् १८९६ के मध्य में इस वर्ग के लोगों ने अपने शुद्धि के लिए प्रार्थना की और अगले कुछ

ही मासों में एक हजार से भी अधिक व्यक्ति आर्यसमाज में भाइयों के रूप में प्रविष्ट कर लिए गए। इन लोगों को पूर्व सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्रदान किये गए। पहले-पहले तो आर्य समाजियों को अनेक कष्ट दिए गए, आर्य समाजों का सामाजिक एवं जाति बहिष्कार किया गया परन्तु १८९८ के अन्त तक वह विरोध भाव समाप्त हो गया और लगभग एक हजार रहतिये हिन्दू समाज में खपा लिए गए।

१९०२ में आर्यसमाज ने स्यालकोट (पंजाब) में मेघों का उद्धार का प्रश्न अपने हाथ में लिया। इन मेघों को भी अछूत समझा जाता था। पहले तो यहाँ भी इस कार्य का तीव्र विरोध किया गया। हिन्दुओं द्वारा इन नए आर्य समाजियों को पीड़ित करने के कार्य में मुलतान भी शामिल हो गए थे, परन्तु डेढ़ लाख से अधिक व्यक्ति अन्य कार्यों में समान अधिकार भोगने लगे तो यह विरोध अपनी प्राकृतिक मृत्यु से मर गया और तब मुजफ्फरगढ़ और मुलतान जिले के ओड, पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों के डोम हजारों की संख्या में शुद्ध किये गए एवं मेघों के उद्धार के लिए जम्बू और कश्मीर रियासत में तथा अन्यत्र आंदोलन किया गया। परिणाम चालीस हजार से भी अधिक आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गए और अब तक वे आते जा रहे हैं। इस प्रकार पंजाब पथ-प्रदर्शन करता रहा है और पिछली सैंसर रिपोर्ट (१९२१) से पता चलता है कि संयुक्त प्रान्त के आगरा और अवध का ईसाई मिशन इस बात की शिकायत करने लगा है कि उनके द्वारा संचालित धर्म परिवर्तन कार्य में आर्य समाजियों द्वारा रुकावटें डाली जाती हैं।

दिल्ली तथा उसके आस-पास, आर्य समाज उन सैकड़ों अछूतों को पुनः हिन्दू धर्म में ले आया जो केवल नाममात्र के ईसाई थे। हजारों धनकों, चमारों, रहगड़ों और भंगियों तक को भविष्य में ईसाइयों के होने वाले आक्रमणों से बचा लिया। ईसाई मिशनरियों ने तो निराश होकर ये धर्म परिवर्तन का कार्य ही छोड़ दिया होता, यदि उन्हें अप्रत्याशित रूप से सहायता न मिल गयी होती।

हिन्दुओं के सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन के लिए अत्यधिक उत्साही होते हुए भी मुसलमानों को अपना यह काम छोड़ देना पड़ा और उनका यह कार्य भाग्य के सहारे और अति सूक्ष्म ढंग से होने लगा। सैंसर रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाता है, कि १९११ से पंजाब में तथा अन्यत्र मुसलमान भंगियों की संख्या कम हो गयी है जबकि अनुपात से हिन्दू भंगियों की संख्या बढ़ गयी है। संयुक्त प्रान्त के संबंध में १९११ की सैंसर रिपोर्ट के पृष्ठ ५४ पर कहा है इस्लाम में धर्मपरिवर्तन के उदाहरण इतने विशाल हैं कि उनकी उपेक्षा की जा सकती है। परन्तु असहयोग आंदोलन के पूर्व यौवन के दिनों में जब महात्मा गाँधी ने स्वराज्य प्राप्त करने की शर्तों में एक शर्त यह भी रख दी कि अछूत वर्ण को हिन्दुओं में पूर्ण रूप से मिला लिया जाए और उनका

उद्धार किया जाए तो मुसलमान नेताओं ने इसे स्वर्ण अवसर समझा और अछूतों को इस्लाम में दीक्षित करने का एक आयोजन प्रारम्भ कर दिया।

मेरे लिए तो अस्पृश्यता के अभिशाप को उखाड़ फेंकना भारतीय राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिए एक आवश्यक शर्त है। अखिल भारतीय महासभा (कांग्रेस) के ३४ वें अधिवेशन के स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से २७ दिसम्बर, १९१९ को अमृतसर में बोलते हुए मैंने राष्ट्रीयता को संकट में से निकालने के लिए राष्ट्रीय शिक्षण और अस्पृश्यता निवारण इन दो साधनों पर बल दिया था। अस्पृश्यता निवारण के सम्बन्ध में मैंने कहा था — अस्पृश्यता प्रगति में बाधक है।

"राष्ट्र में एक वस्तु की कमी है। वह क्या है? मुक्ति सेना (साल्वेशन आर्मी) के जनरल बूथकर ने 'सुधार समिति' के सम्मुख अपने वक्तव्य में कहा था कि साढ़े छह करोड़ भारतीय अछूतों को विशेष सुविधा दी जानी चाहिए, क्योंकि वह ब्रिटिश सरकार के आधार-स्तम्भ है। मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप इस वक्तव्य के अन्तस्तल में घुसकर जानने का प्रयत्न करें कि वे साढ़े छह करोड़ अछूत सरकार के आधार-स्तम्भ कैसे बन सकते हैं? जबकि आप इस पवित्र पण्डाल में इकट्ठे हुए हैं तो मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि आप यह शपथ उठाएं कि इन अछूतों के प्रति आपका व्यवहार इस प्रकार हो कि उनके बच्चे आपके बच्चों के साथ कॉलेज और स्कूलों में पढ़ सकें, आप उन्हें अपने परिवारों में उसी प्रकार घुलने-मिलने दीजिए जिस प्रकार आप स्वयं अपने परिवारों में घुलते-मिलते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि वे आपकी राजनीतिक प्रगति में आपके साथ अपने कन्धे भिड़ाकर चल सकेंगे। देवियों और सज्जनों? आप मेरे साथ मिलकर हृदय से प्रार्थना कीजिए कि मेरा यह स्वप्न सत्य सिद्ध हो—"

अमृतसर के कांग्रेस अधिवेशन के बाद मैंने गुरुकुल का कार्य संभाल लिया। परन्तु जब कांग्रेस का कलकत्ते में विशेष अधिवेशन हुआ तो मैं केवल मात्र इस कारण उसमें सम्मिलित हुआ, क्योंकि मैंने स्वागत समिति को एक प्रस्ताव भेजा हुआ था, जिसमें उस महान् राष्ट्रीय असेम्बली से यह प्रार्थना की गई थी कि कांग्रेसी प्रोग्रामों की सूची में अछूतोद्धार के कार्यक्रम को सम्मिलित कर ले। परन्तु दुर्भाग्य से उस प्रस्ताव पर विषय-समिति तक में विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन से पूर्व महात्मा गाँधी मद्रास गये थे। वहाँ दलित-जाति के लोगों ने अपनी स्थिति के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न गांधी जी से किए कि वे हकला गए और उसके बाद-स्वराज्य प्राप्ति के लिए यह शर्त लगा दी कि १२ मास के अन्दर-अन्दर अस्पृश्यता दूर कर दी जानी चाहिए।

मैंने दिल्ली में दलितोद्धार सभा का संगठन किया और महात्मा गाँधी को कार्यसमिति से आर्थिक सहायता दिलाने के लिए तार दिया। परन्तु बाद में मुझे पता लगा कि कांग्रेस इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकती है। ९ सितम्बर १९२१ को एक पत्र हिन्दी में महात्मा जी को लिखा था। उसका कुछ भाग इस प्रकार है—

"मैंने लाहौर से तार दिया था कि मैं चाहता हूँ कि प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी द्वारा आर्थिक सहायता दी जाए। परन्तु दिल्ली पहुँचने पर मुझे ज्ञात हुआ कि कांग्रेस के लिए अछूतोद्धार कार्य के लिए व्यय करना असम्भव है। दिल्ली और आगरा के चमारों की केवल मात्र यह माँग थी कि उन्हें कुँओं से पानी पत्तों द्वारा न पिलाया जाया करे। मैं अनुभव करता हूँ कि कांग्रेस कमेटी के लिए केवल इस माँग को पूरा कर सकना सम्भव नहीं। केवल इतना ही नहीं, मैंने जिस कांग्रेसी मुसलमान से इस कार्य के लिए सहायता मांगी, उसने उत्तर दिया कि यदि सार्वजनिक कुँओं से हिन्दुओं ने अछूतों को पानी भरने की आज्ञा भी दी, तो मुसलमान उन्हें बल-प्रयोग द्वारा कुँओं से भगा देंगे क्योंकि चमार में से हजारों शराव और मांस को छूते भी नहीं हैं और जिन्हें मुर्दा मांस खाने की लत पड़ भी गई है अब वे भी आर्य समाज के प्रचार के परिणामस्वरूप अपनी इस आदत को छोड़ते जा रहे हैं। मैंने यह पत्र आपको केवल सूचना देने के लिए लिखा है कि अब मैं कांग्रेस कार्यसमितियों से आर्थिक सहायता के लिए प्रार्थना नहीं कर सकता। मैं अपने सीमित स्रोतों के अनुसार जो कुछ कर सकता हूँ, वह सब करूंगा।"

एक अवसर और उपस्थित हुआ जब मैंने लखनऊ में होने वाले कांग्रेस के अधिवेशन के समय प्रयत्न किया कि कांग्रेस सच्चे हृदय से अस्पृश्यता निवारण के प्रश्न को अपने हाथ में ले ले, परन्तु इस पत्र व्यवहार का कुछ परिणाम नहीं निकला। इस पत्र व्यवहार को मैंने 'माइ पार्टिंग एडवाइस' के नाम से कुछ समय पूर्व प्रकाशित कर दिया था और वहाँ देखा जा सकता है।

भारतीय राष्ट्र समाज के ३४ वें अधिवेशन (अमृतसर) की स्वागतकारिणी सभा के सभापति का आरम्भिक भाषण

तिथि ११ पौष, १९७६) (दि. २६ दिसम्बर, १९१९)

ओउम् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो वभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे ।।

हे, सारी सृष्टि के आधार! तुम्हीं हमारे रक्षक पिता हो- तुम्ही हमें मान दिलानेवाली माता हो। इसलिए हम सब तुम्हें इस पवित्र यज्ञ में आह्वान करते हैं। हे शासकों के परम शासक और जातियों के परम सहायक! तुम आज इस जातीय भवन में अपने दृढ़ न्याय, असीम प्रेम का प्रसार करो जिससे प्रवाहित होकर सब बहिनें और भाई,

चेतन और अचेतन—दोनों प्रकार के जगत् के डर से मुक्त होकर, न्याय और प्रेम की आहूतियों से इस जातीय यज्ञ को पूर्ण करें।

भारत माता की पुत्रियों और पुत्रो!

स्वागतकारिणी सभा अमृतसर की ओर से मैं आप सबका हार्दिक स्वागत करता हूँ जिन्होंने दिल्ली नगर में पहुँचकर इस जातीय महासभा के रत्नों को निमन्त्रित किया था, जिन्होंने आप सबके स्वागत के लिए देहली से लौटते ही अमली काम शुरू कर दिया, जो मातृ-भक्ति के प्रेम-मद से उन्मत्त होकर दिन रात जातीय सेवा की मस्ती में झूमते फिरते थे, जिन्होंने गंगा और यमुना के संगम की बुनियाद गत रामनवमी के दिन रखकर सिख गुरुओं से पवित्र किए हुए इस नगर को सचमुच अमृत-सरोवर बना दिया था—उनको भयभीत स्वार्थ तथा अन्याय की शक्तियों ने गत १० अप्रैल को गुम कर दिया। अपने नेताओं का विछोड़ा एक ओर, और जिस देवता की पूजा के लिए सत्याग्रह का मानसिक व्रत धारण किया था, उसकी गिरफ्तारी दूसरी ओर-इन दोनों घटनाओं ने अमृतसर की व्याकुल जनता को अन्धा कर दिया। प्रजा अपनी पैत्रिक प्रथा के अनुसार सिर और पैर से नंगी, अपनी माँ-बाप हाकिम के पास, फरियाद को दौड़ी। परन्तु हाकिम को उसके अन्दर का भय कंपा रहा था। वह मानता है कि उसने पहले से ही फौज इकट्ठी कर रखी थी और उसको हुक्म दे दिया था कि यदि भूलकर, उसे माँ-बाप समझने वाली, प्रजा उसके मन्दिर की ओर चलने का यत्न करे तो, जैसे भी हो सके, उसे आगे बढ़ने से रोका जाए। भोली निहत्थी प्रजा ने रूठे हुए बालक की तरह मारपीट कर आगे बढ़ने का यत्न किया और प्रजा के प्रति सम्राट जार्ज पंचम के प्रतिनिधियों ने उसकी प्रजा को गोलियों से भून डाला अपने निरपराधी सम्बन्धियों को घायल होते हुए और उनमें से बहुतों को रणभूमि में बेजान पड़े हुए देखकर, जनता में आसुरी भाव का विकास हुआ। जिस लाडले मान के भाव से प्रेरित होकर चले थे, उसका उल्टा परिणाम देखकर भी जिन वीरों के हृदय नहीं डोले और जो फिर भी एक ओर मृत शरीरों और घायलों को उठाते हुए, दूसरी ओर जनता को शान्ति से काम लेने की प्रेरणा करते रहे, उन पर अब तक सत्यपरायण देवताओं के मानसिक भावों की पुष्प-वर्षा हो रही है। परन्तु साधारण पुरुष क्रोधाग्नि में दग्ध होकर बुद्धिहीन हो गए। उस तामसी अवस्था में जो पिशाचत्व के काम कुछ भारत के कुपुत्रों से हुए वह जाति के उज्ज्वल मुख पर एक बदनुमा धब्बा है और उसी के लिए सारे पंजाब को प्रायश्चित करना पड़ा है। यदि गंगा और यमुना के संगम के साथ सरस्वती भी उनमें आ मिलती तो पूर्ण पवित्र प्रयाग बन जाता, और हिन्दू, मुसलमान और ईसाई जन समाजों के मेल से भारत से दुई दूर होकर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुँच, संसार में सचमुच एक चक्रवर्ती राज्य की बुनियाद डाल देती। परन्तु जहाँ स्वार्थ का चारों ओर राज्य है, वहाँ

इस गिरे हुए समय में निःस्वार्थ क्षमता का प्रकाश कैसे होता! नियम के नाम पर विप्लव और शान्ति के नाम पर अत्याचार का राज्य फैल गया। मार्शल-लाने —नर, नारी, बाल, वृद्ध और युवा सबको बेजान कर दिया। वैशाख की पवित्र संक्रान्ति के दिन जो रक्त से भूमि लाल हुई उसके श्रवण मात्र से सबके छक्के छूट गए। हाँ, उस दिन मार्शल-लॉ की विजय हुई और शान्ति फैल गई, परन्तु वह शमशान-भूमि और कब्रिस्तान की शान्ति थी—वह मौत की शान्ति थी।

इस शान्ति का निष्कण्टक राज उस समय तक बराबर रहा जब २९ जून सन् १९१९ की दोपहर के समय मैंने, भारत के दो प्रसिद्ध नेताओं और पंजाब के अपनाए हुए संरक्षकों के साथ, अमृत नाम्नी—परन्तु विष से मूर्छित—नगरी में प्रवेश किया मेरा मतलब पूज्य मालवीय जी तथा माननीय पं. मोती लाल नेहरू जी से है।

जिस दिन से इन दोनों वीरों ने जलियाँवाला बाग नामी पवित्र तीर्थ की प्रदक्षिणा करके धैर्य और निर्भयता का अमर मंत्र फूँकना शुरू किया, उसी दिन से अमृतसर में जीवन का संचार हो चला और इस जागृति का पहला परिणाम यह हुआ कि मूर्छा से जागते ही जनता ने अपने नेताओं की प्रतिज्ञा को याद करके कहना आरम्भ किया कि कांग्रेस का आगामी अधिवेशन अमृतसर में ही होना चाहिए। किस प्रकार यह शब्द सारे शहर में गूंज उठा, किस प्रकार इस आवाज की गूँज दबाने की कोशिश हुई किस प्रकार 'दिन-दिन चढ़े सवाया गूढ़ा रंग' की उक्ति के अनुसार जनता की दृढ़ता को कामयाबी हुई, इस पर कुछ भी कहने की जरूरत नहीं। 'जिन ढूँढा तिन पाइया' अमृतसर की जनता की मुराद आज पूरी हुई और मुझे भारत की पूज्या देवियों और माताओं पर न्यौछावर होने वाले पुत्रों का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस जातीय महासभा के इतिहास में शायद यह पहला ही अवसर है जब संन्यासी शानदार वेदी पर खड़ा दिखाई देता है। जिस दिन से स्वागतकारिणी सभा का सभापति चुना गया, उसी दिन से यह प्रश्न हो रहा है कि—'क्या संन्यासी को राजनैतिक आंदोलन में भाग लेना चाहिए?' मेरा उत्तर बहुत सीधा है। जिस दिन से मैंने संन्यासाश्रम में प्रवेश किया उसी दिन से सारे संसार को एक परिवार समझने, सारे संसार के धन को एक आंख से देखने और लोक लज्जा को छोड़कर लोक सेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया। मैं राजनैतिक आंदोलन के लिए नहीं प्रत्युत किसी और कर्तव्य के पालन के लिए आज इस वेदी पर खड़ा हूँ। पहला कारण मेरे इस वेदी पर आने का यह है कि पंजाब के जिन रत्नों ने भारत माता के उज्ज्वल माथे को दाग से बचाने के लिए फांसी और जन्म कैद को तुच्छ समझा और निरपराध होते हुए रहम की दर्खास्त को पाप समझकर कैदखाने को काशी और काबे का रुतबा दिलाया—हरिकिशन लाल, दूनीचंद, रामभज दत्त, किचलू, सत्यपाल—उन्होंने भरी सभा से मुझे आज्ञा भेजी कि मैं

स्वागतकारिणी का सभापति बनूं। फिर मैंने जेल के खूनी पिंजरों में श्रद्धा सम्पन्न चौधरी बुग्गा और वीर महाशय रत्तो–से सिंह–पुरुषों के मुख से भी यही ध्वनि सुनी। परन्तु जब इनमें से कुछ धर्मवीरों की धर्मपत्नियों ने कहा–'बंदीगृह में गिरे हुए हमारे पति महाशयों की आत्मा तभी शान्त होगी जब कांग्रेस का महोत्सव न टले, और भिक्षु संन्यासी से उल्टी भिक्षा माँगी तो उसे मातृ शक्ति के आगे सिर झुकाना पड़ा।

यह पहला कारण मेरे इस वेदी पर आने का है। दूसरा कारण मेरा आश्रम और उसका कर्तव्य है। सनातन धर्म वैदिक धर्म की रक्षा के लिए जो सम्प्रदाय (सनातन धर्म समाज, आर्यसमाज और सभा समाजें) भारतवर्ष में स्थापित है, उनका प्रश्न है कि संन्यासी का राजनीति से क्या सम्बंध। मेरा उत्तर 'वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ बरसों की उम्र तक जीने की आशा कर्म करते हुए ही करूं, परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मों में फंसू नहीं।

कवि तुलसीदास ने सच कहा है–'करमप्रधान विश्व करि राखा'—प्रत्येक को अपना धर्म पालन करना है। आज तक यह 'भारत जातीय महासभा' साधारण पोलिटिकल काम करती रही है, परन्तु आज इसे धर्म के शिखर पर उठाना पड़ेगा, और उसके साथ ही हे, बहिनों और भाइयों! हम सबको भी अपनी दृष्टि ऊँची करनी पड़ेगी। पंजाब का तप सहस्र मुख से यही उपदेश दे रहा है कि मानवी मूल अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े गंभीर तप की आवश्यकता है।

अब नीतियों और राजीनामों और सौदा-सुलुफ का जमाना नहीं रहा ; अब निर्भयता से सत्य पर दृढ़ होने का समय आ गया है। संन्यासी को सम्प्रदायों से—चाहे वे धार्मिक हों या राजनैतिक–क्या काम? उसने तो सारे संसार की सेवा का बीड़ा उठाया है – उसका किसी सम्प्रदाय के साथ क्या सम्बन्ध! शायद इसी विचार से प्रेरित होकर मेरे हस्बेहाल फारसी कवि ने कहा है– 'न हिन्दू अम् न मुसलमान न गब्रियम न यहूद'

मैं न 'हिन्दू' हूँ न 'मुसलमाँ', 'न ईसाई' हूँ और न 'यहूदी'। मैं न 'मॉडरेट' हूँ, न 'एकस्ट्रीमिस्ट', न 'होमरूलर' हूँ और न किसी विशेष पक्ष का समर्थक हूँ। लेकिन, शायर के दूसरे मिसरे के साथ मैं सहमत नहीं। मैं नहीं कहता कि– 'बहैरतम् कि संरजामे माचिरखाहद बूद'।

मैं विस्मित नहीं हूँ कि मेरा अन्त क्या होगा। मेरा आनन्द श्रद्धा में है और इसलिए मैं जानता हूँ कि भारत माता की सन्तान के साथ मेरा भविष्य भी उत्तम ही होगा।

एक राजनैतिक बुद्धिमान् ने मुझे सम्मति दी है कि मैं रिलीजस और सोशल

कामों में लगा रहूँ और पोलिटिकल कामों में दखल न दूँ। उनके लिए मेरा उत्तर यह है कि जिस समय पंजाब की भूमि में आते हूए 'परिन्दों के भी पर जलते' थे, उस समय संयासी ने अपना कर्त्तव्य समझा कि यहाँ की मुरझाई हुई वाटिका को प्रेम जल से सींचने के काम में आपके राजनैतिक नेताओं के कन्धे से कन्धा जोड़ दे। परन्तु आज जब देश के रत्नों ने एक स्वर से पंजाब को अपना लिया है, तब मैं जाति के अमीनों को उनकी अमानत सौंपकर अपने-आपको कृतकृत्य समझता हूँ।

बहिनो और भाइयो ! मैं पंजाब की ओर से साधारणतया और अमृतसर की प्रजा की ओर से विशेषतः आप सब का स्वागत करता हूँ। मैं जानता हूँ और भली प्रकार अनुभव करता हूँ कि आपकी सेवा हम यथार्थ रूप से नहीं कर सकते। इस नगर को धनहीन, सम्पत्तिहीन, बलहीन और उत्साहहीन बनाने में मार्शल लॉ ने कुछ कसर नहीं छोड़ी। परन्तु एक भाव है जिसे मार्शल लॉ का भयानक अत्याचार भी दबा नहीं सका। वह है मातृ भूमि का प्रेम और माता की सन्तान के साथ सच्चा अनुराग और वही भाव मैं आपको भेंट करता हूँ। इस भाव में ऐसी वृद्धि हुई है कि यदि हम उसके लिए मार्शल लॉ के संचालक श्रीमान सरमाईकल ओडवायर और उनके हाथ के दोनों हथियारों-अर्थात् जनरल डायर और कर्नल फ्रैंक जानसन का हार्दिक धन्यवाद करें तो अनुचित नहीं है और शायद कुछ व्यक्तियों ने इसी भाव को लक्ष्य में रखकर कर्नल फ्रैंक जानसन के सामने 'मार्शल लॉ की जय' गुंजाई हो। निष्कपट कर्नल फ्रैंक और मातृप्रेम के रंग में प्रजा को रंग देने वाले जनरल डायर ने जो मार्शल लॉ की घुट्टियाँ पंजाब को पिलाई हैं उनसे पंजाब का जातीय जीवन पचास वर्षों के लिए मर तो क्या जाता उल्टा आधी शताब्दी का उल्लंघन करके आज पंजाब अपने आगे बढ़े हुए बंगाली, मराठी, गुजराती, मद्रासी भाईयों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाने को तैयार है। जिस पंजाब प्रांत में राष्ट्रीयता और उसके अधिकारों की चर्चा पढ़े। लिखों में से भी केवल मुट्ठी भर आदमियों में रह गई थी वहाँ आजकल गुमनाम से गुमनाम ग्राम में भी जातीय महासभा के उद्देश्य और उसकी शक्ति को केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी कुछ-कुछ समझने लग गई हैं। गत् १५ दिनों के अन्तर्गत मेरे पास ग्रामों से जो पत्र आए हैं और २४ जून, १९१९ ईस्वी से अब तक जिन ग्रामीण बहनों और भाईयों से मेरी भेंट हुई है उनकी काया पलट देख कर मुझे विश्वास हो गया कि जाति में अब पूरी जागृति हो गई है।

इस समय जाति रूपी वीणा की सम्प्र"ाय रूपी विविध तारें एक दूसरे से मिली हुई हैं और उनमें से एक ही स्वर निकल ""ा है। इन स्वरों की एकता की बधाई में क्या पोलिटिकल पार्टी बाजी के बेसुरे आलाप को न्यौछावर नहीं कर द्रेना चाहिए? मॉडरेट, लिबरल्ज और एक्सट्रीमिस्ट रेडिकल्ज, महाराष्ट्र होम रूलर्ज और अडियार होम

रूलर्ज तथा इनकी शाखाएं-प्रतिशाखाएँ, एक ही लक्ष्य को सामने रखकर काम करने की दावे दार हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य मातृभूमि को स्वतंत्र करना और संसार के अन्तर्जातीय संगठन में उसे माननीय बनाना बतलाया जाता है तब एक दूसरे से इतनी घृणा क्यों? अपनी कमजोरी मनुष्य स्वयं नहीं देख सकता और जब दो पक्ष प्रत्यक्ष में स्थापित हो कर विवाद आरम्भ हो जाए तब तो विचारों का पक्षपात स्वाभाविक है, परन्तु तीसरा निष्पक्ष दर्शक दोनों की कमजोरी को ठीक बतला सकता है। सच्चाई के प्रकट करने में क्षमा प्रार्थना की आवश्यकता नहीं और इसलिए मैं अपनी सम्मति स्पष्ट कह देता हूँ।

इस समय के मतभेद का कारण भारत सचिव मिस्टर माण्टेगू की पेश की हुई सुधार-स्कीम समझी जाती है। नरम दल के महानुभाव कहते थे कि इसे स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाओ तो हम तुम सबके साथ शामिल होंगे। तब प्रश्न होता कि क्या आप इतने ही संशोधन से सन्तुष्ट हैं? उत्तर मिलता था कि नहीं, परन्तु जितना मिले उसे स्वीकार करके और लेने के लिए हाथ फैलाना और बात है और मिले हुए को सर्वथा अस्वीकार करना और बात है। नरम दल की दृष्टि से यह उत्तर ठीक था, परन्तु अब गरम दल भी तो यही कहने लग गया है। अब तिलक महाराज भी तो यही कहते हैं कि जितना मिलता है उसे ग्रहण करो और शेष के लिए आन्दोलन जारी रखो। फिर मतभेद क्यों? उत्तर दोनों ओर से एक सा ही मिलता है। नरम कहते हैं — 'हम अपनी सम्मति से नहीं डिगे, गरमों ने अपनी सम्मति बदल दी है—वे हमारे समीप पहुँच गए हैं और इसलिए हमारी जीत स्वीकार करो'। गरम कहते हैं—'नरम तो बिना ननुनच के सब-कुछ स्वीकार करने को तैयार थे, अब वे हमारी ओर उठे हैं, इसलिए उन्हें हार स्वीकार करनी चाहिए।' एक-दूसरे की दलीलें समाचार पत्रों में निकल चुकी है, उनको दोहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं। बात सीधी यह है कि दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार नहीं है। दोनों ही अपने स्थान में डटे खड़े हैं। नरम कहते हैं कि भारत-सचिव हमारी बुद्धिमत्ता पर मोहित हुए और हमारी माकूल महदूद तजवीजों से सहमत होकर उन्होंने भारतवर्ष को कुछ अच्छे अधिकार दिए हैं। इसके उत्तर में गरम कह सकते हैं कि यदि हम पूरे स्वराज की एकदम याचना न करते तो देश को इतना भी न मिलता जो अब मिला है। वे पंजाबी की लोकोक्ति पेश कर सकते हैं कि 'मौत को पकड़ो तो जहम कबूल करता है।' परन्तु मिस्टर माण्टेगू एक तीसरी बात कह रहे हैं — 'हाउस ऑफ कामन्स' में सुधार-स्कीम पर वक्तृता करते हुए उन्होंने ४ दिसम्बर को मिस्टर स्पूर के उत्तर में कहा कि न तो कामन्स भारत की शासन-पद्धति को हिन्दुस्तानी आन्दोलन के कारण बदले रहे हैं और ना ही वह विश्वास करते हैं कि यह आन्दोलन आगे जारी रहेगा। उन्होंने यह भी कहा अर्थात् 'आन्दोलन

से शक्ति के परिवर्तन में शीघ्रता से न होगी प्रत्युत देरी हो सकती है।'

तीन दल हैं और तीनों की बात एक-दूसरे को काटती है। परन्तु अपने-अपने ख्याल में तीनों सच्चे हैं। नरम यदि सचिव माण्टेगू के प्रस्ताव का सर्मथन करते तो उनके पास सुधार-स्कीम के विरोधियो के आक्षेपों का उत्तर देना कठिन हो जाता। परन्तु यह सच नहीं कि इस सुधार-स्कीम को एकदम से पास कराने के लिए 'कांग्रेस की एक शिकायत आज के अधिवेशन से पहले दूर करना' ही मिस्टर बानरला ने बतलाया था। मिस्टर माण्टेगू भी सच्चे हैं क्योंकि उन्होंने जो कुछ ब्रिट्रिश पार्लियामेंट से भारत को दिलवाया है उन्ही के दृढ़ संकल्प का नतीजा है— भारत की नरम और गरम पार्टी तो उनकी शतरंजी चालों के मोहरे मात्र थे।

जब यह हाल है तो लड़ाई काहे की? पुराने पठानों की तरह दोनों मूँछों पर ताव दे रहे है और मातृभूमि के विरोधी उनकी खिल्ली उड़ा रहे हैं। यह घरू युद्ध कैसे दूर हो? सुधार-स्कीम अब विवादास्पद विषय नहीं रहा। नरमों का उसे स्वीकार करना और गरमों का उसे अस्वीकार करना—दोनों निरर्थक डींगें हैं। बुरी है वा भली, पूर्ण है वा अपूर्ण— सुधार-स्कीम हम पर लागू हो चुकी है।

नरमों से तो इस पर कोई प्रश्न नहीं हो सकता, परन्तु मैं गरमों से पूछता हूँ कि आपके अस्वीकार करने के अर्थ क्या हैं? क्या आप इस पास हुए कानून का सर्वथा बहिष्कार करने को तैयार हो? क्या आप यत्न न करोंगे कि लेजिस्लेटिव काउंसिलों में आपके चुने हुए, आपका पक्ष समर्थन करने वाले प्रतिनिधि बैठें? यदि सारी जाति, एकसम्मत होकर, इन मिले हुए अधिकारों की उपेक्षा करने को तैयार होती है, तब तो अस्वीकार करने के कुछ अर्थ भी हो सकते। परन्त इस समय तो यह असम्भव है। तब झगड़ा कैसे तै हो? झगड़ा तै हो गया है क्योंकि लोकमान्य तिलक महाराज ने व्यवस्था दे दी है कि "जो मिला है उसे ले लो और शेष के लिए व्यवस्थित आन्दोलन जारी रक्खो।"

भारत में राष्ट्रीयता के भाव के आदि संचारकों में से तिलक महाराज का ऊँचा दर्जा है। और कौन भारत का सपूत है जिसने बहादुर तिलक से बढ़कर माता की शान की रक्षा के लिए सहन किया है? क्या 'मातृ-सेवक-सेना' के सैनिक अपने बूढ़े सेनापति की व्यवस्था के आगे सिर न झुकाएंगे?

अब रास्ता साफ हो गया। नरम और गरम दोनों मिले अधिकारों को लेने में सहमत हैं। मतभेद इतना ही है कि इतना भी किसकी कृपा से मिला? मैं उस बहुत पक्ष की सेवा में, जिसके हाथों में इस समय कांग्रेस की बागडोर, एक निवदेन करता हूँ। आपकी शक्ति बड़ी है। बुद्धि और नीति का चाहे आपके कुछेक मॉडरेट लिबरल

भाइयों ने ठेका ले रक्खा हो, लेकिन संस्था और बल में आपका पाया इस समय ऊँचा है। सामने शुत्र नहीं है, एक ही माता के पुत्र आपके भाई हैं। उनमें से कुछ ऐसे पुराने योद्धा भी हैं जिन्होंने माता की सेवा में बहुत कुछ सहन किया है। क्या स्वर्गवासी गोखले—मातृसेवा में मुग्ध उसी चिन्ता में प्राण देने वाले गोखले—को आप भुला सकते हो? और उस राजनैतिक संन्यासी के त्यागी उत्तराधिकारी साधु-स्वभाव श्रीनिवासी शास्त्री की तुम उपेक्षा कर सकते हो? आज समय के फेर ने चाहे कुछ पलटा दे दिया हो, परन्तु क्या राजनैतिक आन्दोलन के प्रथम वीर सिपाही श्री सुरेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय का तुम तिरस्कार करोगे?

झगड़ा एक पल में निवटता है, यदि एक संन्यासी का कहना मान लो। तुम ही मूँछे नीची कर लो। और जो कुछ मिला है उसके सँभालने में लग जाओ।

इस सम्बन्ध में आपका एक कर्तव्य है जिसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। यह सच है कि हमारी जाति को उसके अधिकारों से ब्रिटिश शासकों ने मुद्दत तक वंचित रक्खा, यह सच है कि इस देश के साथ कई बार विश्वासघात हुआ, यह सच है कि इस समय भी ब्रिटिश जाति के अन्दर ऐसे लोग हैं जिन्होंने आपके पोलिटिकल अधिकारों को दबाने का ही नहीं बल्कि हमारे बचे-खुचे मानवी अधिकारों तक को छीनने का यत्न किया है, परन्तु क्या कुपात्रों की खुदगर्जी और बे-इनसाफी को देखकर सुपात्रों के धर्मभाव और न्याय को भूल जाना चाहिए? मिस्टर माण्टेगू ने इस समय वह काम किया है जो संसार के इतिहास में सदा के लिए यादगार रहेगा। कहा जा रहा है कि 'मि. माण्टेगू ने क्या किया है? किसी हद तक उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया है और जो कुछ भी किया है अपने साम्राज्य की भलाई के ख्याल से किया है। तब उनका धन्यवाद करने की क्या जरूरत है?' मैं पूछता हूँ कि संसार में कितने व्यक्ति है जो अपना कर्तव्य पालन करते हैं? क्या यह सच नहीं है कि आपमें से जितने पोलिटिकल अधिकार पाने के लिए अधिक शोर मचाते हैं, वे भारत के साढ़े छह करोड़ अन्याय से पीड़ित अपने भाइयों को अछूत समझकर उनसे घृणा का भाव दूर नहीं कर रहे? और कितने हैं जो अपने उन दीन भाइयों को अपनाते हैं? यदि अपनी जाति के एक अन्त्यज को अपनाने के लिए आप 'मोहनदास कर्मचन्द गाँधी' को देवता मान सकते हो तो घोर विरोधों का मुकाबिला करते हुए एक रसातल को गई हुई जाति को, किसी अंश तक, उसके अधिकार दिलाने में कृतकार्यता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में क्या आप मिस्टर माण्टेगू का वाणी से भी धन्यवाद न करेंगे? और जिस ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अपने कर्तव्य को (चाहे वह किसी स्वार्थ के विचार से क्यों न हो) समझा है, क्या हम उसे साधुवाद न कहेंगे? बहिनो और भाईयो! भारत की प्राचीन सभ्यता के नाम पर मैं आप सबसे अपील करता हूँ कि इस अपूर्व अवसर

को हाथ से न जाने देना और कृतघ्नता का दाग माथे पर न आने देना!

परन्तु इस कृतज्ञता प्रकट करने का यह मतलब नहीं है कि आप अपने शेष अधिकारों के लिए आन्दोलन करना छोड़ दो। मिस्टर माण्टेगू के कृतज्ञ होते हुए भी इस अंश में उनसे मतभेद आवश्यक है। परन्तु एक बात मैं अवश्य कहूँगा कि कहीं आन्दोलन में फंसकर मिले हुए अधिकारों का ही नाश न हो जाय। एक शायर का कलाम बिल्कुल हस्बे-हाल है–

धोने की रिफार्मर है जा बाकी, कपड़े पै है जब तलक कि धव्वा बाकी।

धो शौक से धब्बे को पै इतना न रगड़, धब्बा रहे कपड़े पै न कपड़ा बाकी।

अब मैं उस घटना की ओर आता हूँ जो आपको स्वदेश के दूर से दूर कोने से खींच कर लाई देश जिस परीक्षा में से गुजरा है उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। जिस घटना ने पंचनद की पुरानी पाक सरजमीन से चंगेज खाँ और नादिरशाह के अत्याचारों को विस्मरण करा दिया, उसकी बुनियाद भारत की असली और बनावटी–दोनों प्रकार की राजधानी देहली नगर में रखी गई थी। ३० मार्च सन् १९१९ ई. के तीसरे पहर पहली गोली देहली में चली और उस समय पता लगा कि जिस देश को बेजान समझा जाता है उसमें कितनी जान है। हण्टरकमेटी के आगे जो शहादत गुजरी है वह क्या जाहिर करती है? उससे मालूम होता है कि इस सदियों से सोई हुई जाति के अन्दर सच्ची वीरता का भाव भी सोया हुआ ही था, मर नहीं गया था। भारतवर्ष के पुनरूद्धार के लिए पहला रक्त पाण्डवों की पुरानी राजधानी की भूमि पर गिरा और उस रक्त ने भारतमाता के प्रधान पुत्रों (अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानों) के सदियों से जुदा हुए दिलों को जोड़ दिया। ३१ मार्च को पहला जनाजा पचास हजार मातमदारों के साथ कब्रिस्तान की तरफ चला और वहाँ शहीद की लाश पर मुस्लिम ईमान, हिन्दूमुस्लिम एकता के शैदा, इस समय के मेरे सबसे प्यारे भाई, हकीम अजमलखां से मेरी भेंट हुई। मुसलमान शहीद का जनाजा और हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। यह तो एक विचित्र दृश्य था। शहीद की कब्र पर उसके खून के पवन्द से, बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक-दूसरे से जुड़ गए।

फिर जब शाम को दो जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान-भूमि में पहुँचा और दाह कर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू-मुसलमानों को इस ईश्वरदत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिख भाई ने कहा–'हम पर क्यों जुल्म करते हो? सिख भी कौम के साथ हैं।' अब हजारों के मजमे मै उस वक्त सैकड़ों आँखों से प्रेम की जलधारा बह रही थी। और जब में श्मशान भूमि से चल दिया तो (पूर्वीय तपस्वी महात्मा

मसीह के सच्चे चेले और भारत माता के प्रेम-पुत्र, मेरे प्रिय भाई महाशय चार्ली ऐण्डूयूज के धर्मभ्राता) प्रिंसीपल 'सुशील कुमार रुद्र' मुझे आकर गले से मिले और कहा—'मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार देख नहीं सकता। मेरा हृदय जाति के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।' परमेश्वर इस मरुभूमि में बहुत से ऐसे रागद्वेपरूपी दुष्ट व्यसनों के दलन करने वाले रुद्र उत्पन्न करे, यह मेरी हार्दिक याचना है।

४ अप्रैल सं० १९१९ ई. का दिन आया तब जामा मस्जिद देहली में खुदा की शान दिखाई दी। उसके पश्चात १८ अप्रैल की रात तक (जब तक कि पुलिस का राज फिर से स्थापित न हुआ) दिल्ली नगर में रामराज रहा। यह ठीक है कि ३ मार्च के प्रातः काल से १८ अप्रैल की रात तक एक ताला नहीं टूटा, एक मारपीट नहीं हुई, एक जेब नहीं कतरी गई—और तो क्या, जुएखाने बन्द रहे, शराबखानों में कोई विरला आदमी ही दिखाई देता था और प्रसिद्ध गुण्डों ने भी देवियों को मां, बहिन, और बेटी समझकर उनको अभयदान दे छोड़ा था।

देहली से यह प्रेम-मयी वायु सारे पंजाब में फैल गई। एकता और मिलाप की लहर बिजली की तरह सारे देश में घूम गई। मस्जिद और मन्दिर में कुछ भेद न रहा। ऐसे समय में सच्चाई और सहनशीलता का सन्देश देने के लिए महात्मा गांधी देहली की ओर चले। जिन हुकूमत के नशे में चूर मनुष्यों का जीवन ही स्वार्थ का स्वरूप हो, उनकी समझ में न सत्य का गौरव आ सकता है और न ही वे सत्याग्रह की शान को समझ सकते हैं। स्वार्थ का इन्द्रासन डांवाडोल हो गया। इस दुबले, बीमार, मुनहनी जिस्म के अन्दरवाले आत्मा के तेज को दुनियादार स्वार्थ सहन न कर सका। जिन बहादुर ब्रिटिश जनरलों और गम्भीर नीतिमान् ब्रिटिश शासकों ने एक तिहाई दुनिया को जीतकर जर्मन साम्राज्य की शक्ति खाक में मिला दी थी, उसके योद्धा इस नई शक्ति के उद्भव से दहल गए, और उसी का नतीजा पंजाब का घोर उपद्रव है। अराजकता का राज हो गया, मनुष्य की जान का कुछ मूल्य न रहा, जेलखाने भर दिए गए, बोलना अपराध हो गया, नंगे चूतड़ों पर कोड़े खाकर चिल्लाना पाप हो गया, इज्जतदारों ने खयाली इज्जत को बचाने के लिए पुलिस रूपी यमदूतों के घर भर दिए और साध्वी सतियों को अपनी रक्षा कठिन हो गई। जलियांवाले बाग की घटना को सामने लाओ और जनरल डायर के कथन को याद करो :

'हाँ, मैं समझता हूँ कि बिना गोली चलाए भी शायद मैं उनको मुन्तशिर कर सकता था।' इस पर प्रश्न हुआ कि फिर आपने ऐसा क्यों न किया? उत्तर मिला-'वे लौट आते और मेरी हँसी उड़ाते और मैं समझता हूँ कि मैं बेवकूफ बनता'। शायद इसी मौके के लिए शायर ने कहा था–'किसी की जान गई आपकी अदा ठहरी! एक बहादुर ब्रिटिश जनरल की शान पर सैकड़ों युवा, बूढ़े और बालकों के सीस चढ़ जाएं

तो क्या परवाह है, उसकी शान में फर्क न आना चाहिए। उन ११ से १५ वर्ष की विधवाओं का चित्र अपने सामने लाइए जिनके पति सूली पर चढ़े या भून डाले गए और जिनके उदासीन मुखों के दर्शन मात्र ने मुझे, नेहरु जी और मालवीय जी को आठ-आठ आंसू रुलाया। एक युवक के नंगे चूतड़ों पर बैतों की मार का हाल सुनाकर, एक वृद्ध ऐसा रोया की उसकी घिग्घी बँध गई। सिंह-पुरूष चौधरी बुग्गा की वीर रमणी का एक गोरे के हाथ से खींचकर मकान से लाया जाना एक घटना है।

मैंने इन घटनाओं का स्मरण आपके हृदयों में शोक और घृणा का भाव उभारने के लिए नहीं दिलाया। घृणा किससे दिलाऊँ? क्या ब्रिटिश जाति से जिसने रिपन, ब्राइट, फासेट, ब्रैडला, वेडरबर्न, इस कांग्रेस के पिता ह्यूम काटन और उनके बीसियों सहकारियों को उत्पन्न किया और इस गिरी हुई जाति को उठाने में सहायता देते हुए ही समाप्त हुए? क्या उस जाति से जिसने हार्डिग और मॉर्ले, और माण्टेगू को जन्म दिया, जिनसे आगे भी बहुत-सी सहायता मिलने की आशा है? परन्तु स्वार्थ के सौदे को छोड़कर मैं पूछता हूँ कि जिस जाति ने देवी वसन्ती और हार्नीमिन, वुड्राफ और इनके बीसियों साथियों को उत्पन्न किया और श्रद्धा-सम्पन्न सरल हृदय ऐण्ड्रूज को भारत माता की गोद में दे दिया –उस ब्रिटिश जाति से घृणा दिलाने के लिए मैंने आपकी स्मरणशक्ति को नहीं प्रेरित किया है और न मैं आपको व्यक्तियों से घृणा दिलाना चाहता हूँ। व्यक्ति सब हमारे भाई है; उनमें जो दोष घुस जाते हैं वे ही हमारे शत्रु हैं।

'ओडवायर' और 'डायर', 'जॉनसन' ओर 'ओब्रायन' ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक पिता की तो सब सन्तान हैं। उनके अन्दर जो क्रोध और असाधुता के भाव हैं वे ही हमारे शत्रु है। परन्तु क्या उन शत्रुओं पर घृणा और क्रोध और 'कीने' की सहायता से हम विजय पा सकेंगे? इसका एक कवि ने ठीक उत्तर दिया है–

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।

जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतं॥

'क्रोध को हम शान्ति से जीतें, असाधुता को साधु-भाव से, कंजूसी को दान से और झूठ को सचाई से जीतने की आशा रखें ।' जातियों की परस्पर की घृणा ने तो संसार के नाश की बुनियाद रखी है–– उस घृणा का मैं समर्थक नहीं। न मैंने आपको शोकातुर करने के लिए इन घटनाओं का वर्णन किया है। मेरा मतलब केवल यह बतलाने का है कि जिस वेदना में से गुजरने का पंजाब को सौभाग्य प्राप्त हुआ है उससे हम सबको क्या शिक्षा मिलती है।

इस वेदना का प्रथम फल हिन्दू-मुसलमानों का ईश्वरदत्त मिलाप है जिसे स्थिर रखना जाति का प्रथम कर्त्तव्य है। इस मिलाप को स्थिर रखने के लिए दिलों को

तीसरों के द्वेष से भी पाक रखना चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों की एकता के स्थान में हिन्दोस्तानी मात्र के अन्दर एकता उत्पन्न करके संसार को अपनाना इस समय का मुख्य कर्तव्य है।

दूसरा फल इस वेदना का यह है कि जाति को तप का गौरव मालूम हो गया। मार्शल-लॉ के दिनों में पता लगा कि पोलिटिकल अधिकारों का शोर मचानेवाले यदि चरित्रहीन हों तो वे देश को रसातल में ले जाते है। इसलिए सबसे बढ़कर काम चरित्र-संगठन का है जो जाति को अपने हाथ में लेना चाहिए।

तीसरा फल यह हुआ कि जाति को व्यवस्था-बद्ध आन्दोलन के प्रभाव का पता लगा गया। जहाँ भी नेता बुद्धिमान्, सहनशील और सत्य-परायण थे और जनता ने उनकी आज्ञाओं का पालन किया, उन स्थानों में बड़ा भारी बचाव हुआ और शीघ्र शान्ति स्थापित हो गई। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सहनशक्ति का गौरव प्रत्यक्ष हो गया। सबसे बढ़कर सहनशक्ति का प्रकाश जलियाँवाले बाग में हुआ। इस वृक्ष-पुष्प-फल-हीन (किन्तु अमर) वाटिका में युवा पुरूषों ने ही नहीं, बल्कि बूढ़ों और बालकों तक ने सत्य पर आरूढ़ होकर घातक गोली की वर्षा को फूलों की वर्षा समझा। इस स्थान की 'जलन' को हिन्दू-मुसलमान और सिख वीर शहीदों के लहू ने मिलकर शान्त कर दिया है। यह भूमि अब 'अमर-वाटिका' के नाम से प्रसिद्ध होगी क्योंकि इस पवित्र भूमि में जो मरे वे स्वयं अमर हो गए और हम सबको और आनेवाली नस्लों को अमृत-नगर में पहुँचने का सीधा रास्ता दिखा गए।

बहिनो और भाइयो! पश्चिमी परिभाषा में 'पोलिटिकलमैन' जिसे कहते हैं, वह मैं नहीं हूँ। अपने पोलिटिकल अधिकार लेने का जो आधुनिक मार्ग है उसका मुझे अनुभव नहीं और उसमें मेरा दखल देना धृष्टता मात्र होगा। कितना, किस दर्जे का, किस क्रम से स्वराज्य मिलना चाहिए और किस प्रकार उसके लिए यत्न करना चाहिए, यह देश के राजनैतिक नेता ही जानते हैं, इसलिए इसका विचार मैं उन्हीं पर छोड़ता हूँ। और इस काम के लिए मैं मुनासिब साधन उन विविध राजनैतिक सभाओं को समझता हूँ जो इस समय, कई कारणों से स्थापित हो चुकी है और जिनके नेता उनको दिनों तक उन्नत करने में लगे हुए हैं। परन्तु इस जातीय महासभा के सामने मैं कुछ अपने विचार रखना चाहता हूँ जो मेरे क्रियात्मक अनुभव का निचोड़ हैं।

इस जातीय महासभा का प्रधान काम अब तक यह रहा है कि स्वदेश के पोलिटिकल अधिकारों को विदेशी गवर्नमेण्ट से प्राप्त करने के लिए रेज़ॉल्यूशन मात्र पास करे, परन्तु जहां एक ओर उन पास किए प्रस्तावों (Resolutions) को अमली जामा पहिनाने के लिए बहुत कम यत्न हुआ है वहाँ कौम की असली बुनियाद डालने और उस कौम को मिलनेवाले अधिकारों को पचाने के योग्य बनाने का बहुत कम

क्या, इस जातीय महासभा की तरफ से कुछ भी यत्न नहीं हुआ। स्वराज्य प्राप्त करके उसे पचाने के लिए पहली जरूरत यह है कि कौम का एक-एक बच्चा ऐसी तालीम हासिल कर सके जिससे उसकी आत्मा दृढ़ होकर उसके अपने शरीर, इन्द्रियों और मन का मालिक, उनको वश में करने वाला बन सके। यह तब हो सकेगा जब एक ओर जातीय शिक्षा-पद्धति बनाकर कौम की तालीम कौम के हाथों मे हो जाए और दूसरी ओर जाति के माता और पिता अपने शरीरों, इंद्रियों और मनों को शुद्ध करके अपनी सन्तान के सामने, पैरवी करने के लिए, उत्तम मिसाल रखें। मैंने देश की आचार तथा समाज-सम्बन्धी सेवा करते हुए गत २६ वर्षों में अनुभव किया है कि जहाँ प्रत्येक शिक्षित पुरुष कालिज से निकलते समय देश और धर्म-सेवा का मानसिक व्रत धारण करके निकलता है वहाँ परीक्षा के समय एक हजार में से शायद ही एक साबितकदम रहता हो। ऐसे हिन्द के देशभक्त उंगलियों पर गिने जा सकते हैं। जो विदेशी शासकों से प्रलोभित किये जाने पर भी देश के हित के लिए उपाधि (Title) रूपी सुनहरी जंजीरों को तोड़के फेंक दें। वाइसराय की अनुचित धमकी के उत्तर में 'सर' की उपाधि को सिर से उतारके फेंक देनेवाले डाक्टर सुब्रह्मण्यम-से ब्राह्मण देश में कितने हैं? अपनी जाति पर अत्याचार करनेवाले पिशाच-भाव का जिस गवर्नमेण्ट की तरफ से इजहार हुआ, जिस गवर्नमेण्ट के चाकरों ने स्वजाति के गौरव को नष्ट करने में कुछ कसर न छोड़ी, उसकी दी हुई उपाधि को एक दिन के लिए भी धारण किए रखना पाप समझने वाले भारत के सूर्य, कवि रवीन्द्रनाथ से कितने देवता हैं? और सच्चे राजधर्म का पालन करने वाले, मनुष्य और पशु के भय से युक्त, वैदिक निर्भयता के उपदेश पर अमल करने वाले, स्वदेश को पद दलित करनेवाले शासकों की श्रेणी को एकदम छोड़ देनेवाले वीर शंकर नायर से सिंहपुरुष कितने हैं? देवियो और भारत माता के सुपुत्रो! यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। अब सदाचारी, ब्रह्मचारी, शिक्षक हों, और कौमी हो शिक्षा-पद्धति (National Scheme of Education) तब ही कौम की जरूरतों को पूरा करने वाले नौजवान निकलेंगे, नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम निकलती रहेगी।

परन्तु यह पहली ज़रूरत पूरी होना कठिन है जब तक कि कौम की बुनियाद न पड़ ले। मैं इण्डियन नेशनल कांग्रेस की वेदी पर खड़ा हूँ और इसलिए शायद यह कहना सिडीशन समझा जाए कि ३० मार्च सन् १९१९ से पहले तक कौमों की बुनियाद नहीं पड़ी थी। परन्तु मैंने, और जिन निर्भय देश सेवक देवताओं का मैं साथी हूँ उन्होंने मशीनगनों (Machine Guns) और हवाई जहाजों (Aeroplanes) की मालिक गवर्नमेंट की धमकी पर भी सच को कभी नहीं दबाया तब आप दयालु बहिनों और भाइयो! मुझे सत्य के प्रकाश करने में क्या सन्देह हो सकता है! मेरा मन्तव्य है कि

३० मार्च, १९१९ ई. तक 'नेशन' का नाम ही नाम था, उसकी बुनियाद नही रखी थी। जो काम हिन्दु मुसलमानों के समझदार नेताओं की ३४ वर्षों की मेहनत पूरा न कर सकी उसकी बुनियाद, परमेश्वर की कृपा से, देहली नगर में ३० मार्च की शाम को रखी गई और १३ अप्रैल की शाम को जब जलियांवाले बाग में हिन्दू, मुसलमान और सिख, बाल, युवा और वृद्धों का रक्त मिलकर बहा-उस समय जातीयता के महल की बुनियादें भरी जाकर दृढ़ हो गई। अब कसर केवल एक है जिसे निकाल डालिए।

लण्डन नगर में भारत की रिफार्म स्कीम कमेटी के सामने 'ईसाई मुक्ति फौज', के जनरल बूथटकर (Booth-Tucker) साहब ने कहा था कि भारत के साढ़े छः करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिए और उसके लिए हेतु दिया था—"Because they are ancher-sheets of the British Government."

इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिए और सोचिये कि किस प्रकार आपके साढ़े छः करोड़ भाई—आपके जिगर के टुकड़े जिन्हें आपने काटकर परे फेंक दिया— किस प्रकार भारतमाता के साढ़े छः करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट रूपी जहाज के लंगर बन सकते हैं! मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूँगा कि इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि 'आपके वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं। उनकी पुत्रियाँ और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे, उनके गृह-नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे और हमारे स्वतंत्रता प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे।' हे देवियो और सज्जन पुरुषो! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह संकल्प पूरा हो।

देहली नगर की जामा मस्जिद में मैंने वह दृश्य देखा था जिसका स्वप्न मुझे २६ वर्षों से आ रहा था और क्या आश्चर्य है कि परम पिता और जगत् की दयालु माता की कृपा से मुझे अपने दूसरे स्वप्न का दृश्य भी जागृत अवस्था में देखना नसीब हो! जब वह दिन आवेगा जब आपको अपने विदेशी खानपान, अपने विदेशी पहरावे और अपने विदेशी भोग जीवन (Life of Luxury) को तिलांजली देनी होगी और कोई छूआछूत नहीं बन सकेगी जो इस जातीय महासभा के सभ्यों को अपने नीचे महदूद कर सके। जाति के बिखरे हुए अंग मिलाकर फिर से जातीय भवन खड़ा हो जाए और भारत सन्तान की शिक्षा जाति के ही अधिकार में हो, यह जाति की स्वतंत्रता का मूल तंत्र है। आओ, बहिनो और भाइयो! उस स्वर्गीय समय की एक झलक देखने के लिए परमेश्वर के पवित्र अदृश्य चरणों में अपने हृदयरूपी सीस नवा दें। कौन परमेश्वर?

'कांटा है हरिक जिगर में खटका तेरा,
हलका है हरिक गोश में खटका तेरा।
माना नहीं जिसने तुझको जाना है जरूर,
भटके हुए दिल में ही खटका तेरा'

हे गोरे और काले के मालिक! हे राव और रंक के स्वामी! इस जातीय महासभा में अपनी सच्ची रोशनी का प्रकाश कर जिसकी सहायता से जाति के नेता सत्य का यथार्थ स्वरूप देखे और उसकी रोशनी में अपने और बेगाने के साथ एक-सा न्याय का बर्ताव कर सकें!!!

श्रद्धानन्द संन्यासी

राजनीति का सूर्यास्त

सोमवार १९ श्रावण (२ अगस्त) के प्रातः दैनिक अखबार समाचार लाए कि लोकमान्य तिलक का देहान्त हो गया! मैंने उसी समय सोचा कि भारतवर्ष से राजनीति का सूर्य अस्त हो गया। तिलक के होश संभालने से पहिले भी राजनीतिज्ञ थे और उनके समय में ऐसे नीतिज्ञ हो चुके हैं और हैं जिनका लोहा माना गया है परन्तु फिर भी मैं यही कहता हूँ कि अपनी मातृभूमि में राजनीति का सूर्य अस्त हो गया। यह क्यों? इङ्गलैंड के तत्त्वज्ञानी बेकन (Bacon) के विषय में लिखा गया है कि वह फ़िलासफी (Philosophy) को आसमान पर से जमीन पर लाया; तिलक महाराज के विषय में निश्चय है कि भारत वर्ष में राजनीति को अंग्रेजी पढ़ों के पुस्तकालयों से बाहर निकाल कर जनता की झोपड़ियों में पहुँचाने के अगुआ यही थे। केसरी पहला राजनीतिक समाचार पत्र है जो किसानों की झोपड़ियों और मजदूरों की गोष्ठियों में पढ़ा जाना शुरू हुआ था और गणपति पूजा पहिला संगठन है कि जिसने जनता के बड़े भाग को एक राजनीतिक सूत्र में पिरो दिया। समर्थ रामदास ने शिवाजी को द्विजन्मा बनाया और छत्रपति शिवाजी ने स्वतंत्रता का नाद बजाया परन्तु समर्थ तिलक ने स्वयम् अपना राजनैतिक संस्कार किया और स्वयम् ही भारत की प्रजा को राजनैतिक स्वतंत्रता की घोषणा दी—Home rule is my birth – right and I claim it. स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, और मैं इसका दावा करता हूँ।

राजनीति का सूर्य अस्त हो गया। फिर क्या अन्धेरा हो जाएगा। हे पुनर्जन्म पर विश्वास रखने वाली भारत प्रजा! सूर्य अस्त हो गया परन्तु उसका अत्यंताभाव नहीं हुआ। जो काम एक सूर्य करता था, उस से प्रकाश पाए हुए सहस्रों तारे उस को पूरा करेंगे। भारत माता के उज्ज्वल मुख की ओर देखो—उसका मुख मलिन नहीं, क्योंकि वह जानती है कि जो प्रकाश उसके समर्थ पुत्र ने फैलाया था वह एक-एक भारत पुत्र

ने अपने अंदर सुरक्षित कर लिया है।

लोकमान्य तिलक के बिछोड़े पर कौन आँसू न बहायेगा! विवश होकर अश्रुधारा वह निकलेगी। परन्तु वह देखो विद्युत के अक्षरों में सूर्य लोक पर क्या लिखा गया है–"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। और मैं उसे प्राप्त करूँगा।" ओउम् शांतिः शांतिः शांतिः।

श्रद्धानन्द संन्यासी

शिक्षा क्यों और कैसी?

विगत सप्ताह, इसी विषय पर लिखते हुए, हमने शिक्षाविषयक हलचल का कुछ समीक्षण किया था। उस समीक्षण से हमें पता लगा था कि देश के अन्दर इस समय शिक्षा के लिए बड़ी ही उग्र बुभुक्षा उत्पन्न हो चुकी है। देश के विचारक लोग विशेषतया और सर्व साधारण सामान्यतया शिक्षा के गौरव को कुछकुछ समझने लगे हैं। बड़ौदा नरेश ने इसी भूख को पूरा करने के लिए जो-जो साधन किये हैं, वे अब सर्वज्ञात हो गए हैं। शिक्षासुधार के विषयों में बड़ौदा ब्रिटिश सरकार से भी दो चार कदम आगे रहा है। बड़ौदे के आदर्श को ही सामने रख कर, मि. गोखले का बिल प्रस्तावित हुआ है। और रियासतों के नरेश भी बड़ौदे के चरण चिन्हों पर चलने का यत्न कर रहे हैं। सारांश यह कि शिक्षा के लिए भूख व्यापिनी हो रही है।

आज हम इस भूख का विश्लेषण करना चाहते हैं। इन लेखों में हम देखना चाहते हैं। कि शिक्षाविषयक विद्यमान मांग में कौन कौन से अवयव वर्त्तमान हैं और उस की क्या स्पष्ट विशेषताएं प्रतीत होती हैं?

शिक्षा की मांग की विशेषताएं

शिक्षा की मांग की प्रथम विशेषता यह है कि उसे इस समय सब के लिए समान कर देने का विचार किया जा रहा है। हर एक व्यक्ति–चाहे वह किसी कुल या किसी स्थिति का हो-अवश्य शिक्षित होना चाहिए, यह शब्द है जो चारों दिशाओं से उत्तेजित हो रहा है। जातियों और उपजातियों का अब शिक्षा से सम्बन्ध टूटता जाता है, और मनुष्यत्व और शिक्षा का अटूट सम्बन्ध होता जाता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो साधन कार्य में लाए जा सकते हैं। उन के विषय में मतभेद हो सकता है, और है, किन्तु इस में सन्देह नहीं है कि शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के विरुद्ध कोई भी नहीं है। मतभेद अनेक अंशों में हो सकता है, दृष्टान्त के लिए आप ज़बर्दस्ती का प्रश्न ले लीजिये। सब को शिक्षित करने के लिए आवश्यक है कि अनिच्छुकों को शिक्षित किया जाय। वह ज़बर्दस्ती सामाजिक बल द्वारा की जाय या राजनैतिक बल द्वारा? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। सभ्य देशों में राजनैतिक बल ही शिक्षा का प्रचार

होता आया है, इसलिऐ हमारे देश में भी यही उपाय सफल हो सका है, यह स्पष्ट है, तथापि, मतभेद में ऐसे के लिए स्थान का अभाव नहीं है। पश्चिम में ऐसे विचारकों की कमी नहीं है,जो राज्य के इतने अधिकारों को भयानक समझते हैं, और व्यक्तिवाद को ही प्रधान समझते हैं। ऐसे ऐसे मतभेद हैं, और रहेंगे, हमें इस समय उनसे अभिप्राय नहीं, यहाँ अभिप्राय केवल प्रवृत्ति से है। सार्वजनिक शिक्षा की, जो पतितपावनी लहर इस समय देश में चल गई है, उस का जान लेना ही यहां हमारे लिए पर्याप्त है।

२. शिक्षा के लिए वर्तमान हल-चल का दूसरा बड़ा अंश धार्मिक शिक्षा सहित शिक्षा के लिए पुकार है। श्री मालवीय जी से प्रारम्भ कर के, सर आगा खाँ तक के सब कार्यकर्ता स्वीकार करते हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सब से बड़ा दोष, धार्मिक शिक्षण का अभाव है। केवल प्रजा पक्षपाती नेता ही इस कमी को अनुभव कर रहे हैं- ऐसा नहीं, राजकीय पक्ष भी अब इस विषय में सन्दिग्ध हो रहा है। विद्यालयों की शिक्षा से विद्यार्थियों का मानसिक शिक्षण चाहे कितना ही हो जाता हो, किन्तु आत्मिक शिक्षण के गोलक में एक कानी कौड़ी भी नहीं पड़ती है। देश में फैले हुए अराजकतावाद और निषेधवाद का मूल कारण धार्मिक शिक्षण का अभाव ही है। पुस्तकीय धार्मिक शिक्षण के साथ क्रियात्मक धार्मिक शिक्षण के लिए भी पुकार धीमी नहीं है। इस समय विद्यालय के तथा महाविद्यालय के छात्रों के गलों में छोटी अवस्थायें में ही गृहस्थ के बन्धन पड़ जाने से जो हानियाँ हैं, उन्हें कौन-सा विचारक अनुभव नहीं कर रहा है। स्कूलों के साथ ही आश्रमवास की प्रथा का अब सभी अनुमोदन करने लगे हैं। आश्रम वास तथा ब्रह्मचर्य के लिए मांग समान रूप वाली समझनी चाहिए ब्रह्मचर्य पूर्वक आश्रम वास धार्मिक शिक्षण का ही क्रियात्मक अंश है, मुसलमानों और हिन्दुओं के विश्वविद्यालय इस प्रवृत्ति के ज्वलन्तरूप है।

३. शिक्षा विषयक हल चल का तीसरा प्रधान अंग शिक्षण प्रणाली का संशोधन है। भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा कल्पनात्मक अधिक है और क्रियात्मक कम है। अंग्रेजी के अध्यापन को स्कूलों में जो प्राधान्य दिया जाता है वह विद्यार्थियों की स्वमूलक शक्तियों का ह्रास करने वाला है। प्राचीन आर्य तथा आर्ष ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यकता से बहुत कम कराया जाता है। विद्यमान शिक्षा से कर्ल्क और रेलवे में काम करनेवाले ही उत्पन्न किये जा सके हैं, वास्तविक शिक्षित मनुष्य नहीं। ये सब कथन है जो इस समय देश के विचारकों के अन्दर आदर प्राप्त कर रहे है इस समय की शिक्षा को नाम की अधिक और काम की थोड़ी समझा जाता है।

इस कमी को पूरा करने के लिए कई लोगों का विचार है कि शिक्षा उन्हीं लोगों

के हाथों में रहनी चाहिए, जिन लोगों से इस का पूरा सम्बन्ध हो, ताकि वे अपने हिताहित का विचार करके शिक्षा प्रणाली का निश्चय कर सकें, और साथ ही अनेक स्वाधीन विश्वविद्यालयों की रचना होनी चाहिए, जिससे शिक्षा के विषय में अनेक प्रकार के परीक्षणों द्वारा और परस्पर की डाह (Competition) द्वारा शिक्षा शीघ्र उन्नति को प्राप्त हो सके।

ये तीन ही विशेष प्रवृत्तियाँ हैं, जिन से शिक्षाविषयक वर्तमान हलचल बनी हुई है।

PDF created by Rajesh Arya, Gujarat

स्वामी श्रद्धानन्द वाङ्मय : सम्पूर्ण सूची

हिन्दी-पुस्तकें

१. आर्य संगीतमाला, १९००, जालन्धर

२. ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार (प्रथम भाग), १९१०, गुरुकुल कांगड़ी, पृ. ४७२

३. वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति १९११, गुरुकुल कांगड़ी

४. पारसी मत और वैदिक धर्म, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी, पृ. ४०

५. मातृभाषा का उद्धार १९१६, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय दिल्ली, पृ. ३९

६. वेद और आर्यसमाज, १९१६ प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी, पृ.४०

७. आर्यों की नित्यकर्मपद्धति, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी

८. पंचमहायज्ञविधि, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर कांगड़ी

९. विस्तारपूर्वक सन्ध्या विधि (लाला ज्वालासहाय की उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), १९१६, दिल्ली

१०. आचार अनाचार और छूतछात, १९१६, दिल्ली

११. ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज, १९१९ प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी

१२. उत्तराखण्ड की महिमा अर्थात गढ़वाल प्राचीन और अर्वाचीन (जिसके साथ कुरुक्षेत्र माहात्म्य भी लगा दिया गया है), १९१७, दिल्ली

१३. मानव धर्मशास्त्र तथा शासन-पद्धति, १९१७, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी

१४. आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त, १९१७, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय, दिल्ली पृ. १०४

१५. जाति के दीनों को मत त्यागो, १९१९, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, दिल्ली, पृ. ७६

१६. गढ़वाल में १९७५ विक्रमी का दुर्भिक्ष और उसके निवारणार्थ गुरुकुल दल का कार्य, १९१९ विजय प्रेस, दिल्ली, पृ. ७५

१७. बन्दी घर के विचित्र अनुभव (गुरु का बाग सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपनी जेलयात्रा का रोचक वर्णन), १९२३, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय, दिल्ली

१८. कल्याणमार्ग का पथिक (आत्मकथा), १९२४, ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी पृ. २१५

१९. हिन्दुओं सावधान, तुम्हारे धर्म-दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया, १९२४ दिल्ली

२०. वर्तमान मुख्य समस्या : अछूतपन के कलंक को दूर करो, १८२४, दिल्ली

२१. आर्य पथिक लेखराम : १९२५, गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता

२२. मुक्ति-सोपान : १९२५, लाहौर

२३. आर्यों के नित्यकर्म, राजपाल एण्ड संस लाहौर

२४. धर्मोपदेश (स्वामी जी के उपदेशों एवं व्याख्यानों का संग्रह) -- तीन खण्डों में -- सम्पादक लाल लब्भूराम नय्यड़, गुरुकुल कांगड़ी

उर्दू-पुस्तकें

१. वर्ण व्यवस्था, १८९१, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ. ६७

२. एक मांस प्रचारक महापुरुष की गुप्तलीला का प्रकाश, १८९५ सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर पृ. ६२

३. क्षात्र धर्म पालन का ग़ैर मामूली वाकया, १८९५, जालन्धर

४. यज्ञ का पहला अंग (स्वस्तिवाचन और शान्ति प्रकरण का उर्दू अनुवाद), १८९७, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर पृ. ३८

५. उपदेशमंजरी, १८९८, जालन्धर

६. आर्यसमाज के खानाजाद दुश्मन (सद्धर्म प्रचारक में छपे लेखों का संग्रह), १८९८, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ. २७२

७. सुबहे-उम्मीद (वेदों के विभिन्न टीकाकारों और स्वामी दयानन्द की भाष्य शैली और वेदों की महत्ता का विवेचन), १८९८, लाहौर

८. पुराणों की नापाक तालीम से वचो, १८९९, जालन्धर

९. सद्धर्म प्रचारक पर पहला लायवल केस, १९०१ जालन्धर

१०. महात्मा मुंशीराम के सात लेक्चरों का मजमूआ, १९०४, लाहौर पृ. ११०

११. दुखी दिल की पुरदर्द दास्तान, १९०६, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ. ६५४

१२. मेरी जिन्दगी के नशेबो-फराज (स्वामी जी की संक्षिप्त आत्मकथा), १९११, जालन्धर

१३. हिन्दु मुस्लिम इत्तहाद की कहानी, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली पृ. ४८

१४. अन्धा एतकाद और खुफ़िया जिहाद, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली पृ. १४४

१५. मुहम्मदी साज़िश का इन्कशाफ, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली पृ. ९६

१६. अछूतोद्धार : एक फौरी मसला

१७. मेरा आख़िरी मश्वरा

१८. दाइये इस्लाम या तबाहिए इस्लार

अंग्रेज़ी पुस्तकें

१. द फ्यूचर ऑफ आर्यसमाज-ए फोरकास्ट, १८९३, लाहौर

२. द आर्यसमाज एण्ड डिट्रेक्टर्स-ए विण्डीकेशन, १९१०, गुरुकुल कांगड़ी

३. हिन्दू संगठन सेवियर ऑफ द डाइंग रेस, १९२६, दिल्ली

४. इनसाइड कांग्रेस (स्वामी जी के एक अप्रैल से १८ अक्टूबर १९२६ के बीच 'लिबरेटर' में प्रकाशित २५ लेखों का संग्रह, १९४६, फ्रीनिक्स पब्लिकेशन, बम्बई पुर्न मुद्रण १९८४, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएं

१. सद्धर्म प्रचारक, उर्दू, १६ फ़रवरी १८८९ से २ फ़रवरी १९०७ तक, जालन्धर

२. श्रद्धा, हिन्दी, १९२०-२१, दिल्ली

३. सद्धर्म प्रचारक, हिन्दी एक मार्च १९०७ से १९१५ तक, गुरुकुल कांगड़ी

४. लिबरेटर, अंग्रेज़ी, १९२६, दिल्ली

सहायक ग्रन्थ :

१. कल्याण मार्ग का पथिक – स्वामी श्रद्धानन्द

२. आर्य समाज का इतिहास-भाग-१, ३, ५ – डा. सत्यकेतु विद्यालंकार

३. श्रद्धानन्द ग्रन्थावली-भाग-४,५,६,११ – डा. भवानीलाल भारतीय

४. मेरे पिता – पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति

५. स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व – डा. विनोदचन्द्र विद्यालंकार

६. वीर संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द – डा. रामगोपाल विद्यालंकार

७. स्वामी श्रद्धानन्द – श्री सत्यदेव विद्यालंकार

८. भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द – श्री विष्णु प्रभाकर

९. अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द — श्री सत्यकाम विद्यालंकार

१०. हिन्दी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य — डा. कमलेश सिंह

११. हिन्दी का आत्मकथा साहित्य — डा. विश्वबंधु

१२. भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता — डा. ब्रह्मानन्द

१३. लोकमान्य तिलक और उनका युग — पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति

१४. उत्तर प्रदेश में गाँधी जी – श्री रामनाथ सुमन, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, लखनऊ

१५. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास — डा. रामस्वरूप चतुर्वेदी

१६. आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार — डा. भवानीलाल भारतीय

१७. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन — डा. लक्ष्मीनारायण गुप्त

१८. 'श्रद्धा' शुक्रवार २३ श्रावण संवत् १९७७, (सन् १९२० ई.) — समाचार पत्र

१९. Swami Shradhanand-His life and Causes – J.T.P. Jordans

PDF created by Rajesh Arya - Gujarat

गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार के संस्थापक और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के निर्भीक योद्धा ***स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती*** (1856-1926) का जन्म पंजाब प्रान्त के जालन्धर ज़िले के तलवन नामक कस्बे में एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल में हुआ। उनका प्रारंभिक जीवन बहुत ही अव्यवस्थित रहा। बचपन और कैशोर्यावस्था में ऐश्वर्य और भोग-विलास का जीवन जीते, सामने घटी अनेक घटनाओं ने मुंशीराम के मन में जिज्ञासा पैदा कर दी जो प्रश्नाकुलता को जन्म देती है। चिन्तन की इसी प्रक्रिया में सत्य की तलाश की प्रेरणा निहित है जिसने कालान्तर में मुंशीराम को महात्मा मुंशीराम और फिर स्वामी श्रद्धानन्द बना दिया।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। पत्नी की मृत्यु के बाद श्रद्धानन्द आर्य समाज को पूरी तरह समर्पित हो गये। अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति और संकल्प के कारण वे शिखर के शीर्ष पर पहुँचे, जहाँ विरले ही पहुँच पाते हैं। उन्होंने समाज में कोढ़ की तरह व्याप्त रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर करारी चोट की और धर्म, समाज, संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में अनेक क्रांतिकारी क़दम उठाये। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विज्ञान-जैसे विषय की शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय उस स्वप्नदर्शी सर्जक के सफल प्रयोग का उत्कृष्टतम उदाहरण है। उन्होंने हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं, जिनमें ***सद्धर्म प्रचारक, लिबरेटर*** आदि प्रमुख हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में उनका योगदान अविस्मरणीय है। ***कल्याण मार्ग का पथिक, बन्दीघर के विचित्र अनुभव,*** आत्मकथा और संस्मरण एवं अनेकों विचारोत्तेजक लेख उस युग का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है।

इस विनिबंध के रचयिता, यशस्वी कृतिकार तथा *आवारा मसीहा* के सुपरिचित लेखक श्री विष्णु प्रभाकर और गुरुकुल काँगड़ी के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. विष्णुदत्त राकेश हैं। साहित्य अकादेमी की प्रस्तुत योजना के अंतर्गत विष्णु प्रभाकर ने ***काका कालेलकर*** और ***स्वामी दयानन्द सरस्वती*** पर भी विनिबंध लिखे हैं। डॉ. राकेश ने अनेक ग्रंथों का सम्पादन किया है; उनमें प्रमुख हैं ***वैदिक साहित्य-संस्कृति और समाज दर्शन***। लेखकद्वय ने इस पुस्तिका में सहज, सरल और सुबोध भाषा में स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती के जीवन के विभिन्न आयामों और योगदान पर संक्षेप में चर्चा की है।

ISBN 81-7201-443-0

पन्द्रह रुपये